bdkbZ 7 çtkfr vkSj u`tkrh;rk*

bdkbZ dh :ijs[kk

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 प्रजाति की परिभाषा

7.2.1 सामाजिक निर्माण के रूप में प्रजाति

7.2.2 प्रजातिवाद

7.3 नृजातीयताः इतिहास, परिभाषा और उसके घटक

7.4 नृजातीयता की आरंभिक धारणा

7.4.1 नृजातीयता समूह

7.4.2 नृजातीयता के प्रमुख घटक

7.5 समकालीन परिप्रेक्ष्य

7.5.1 नृजातीयता और प्रकार्यवाद

7.5.2 नृजातीयता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

7.6 नृजातीय स्तरीकरण

7.6.1 नृजातीय राष्ट्रवाद

7.6.2 राष्ट्र और नृजातीय समूह

7.6.3 राष्ट्रवाद और नृजातीयता

7.5.4 राष्ट्रीयता का विकास

7.6.5 नृजातीय राष्ट्रवाद और भारत

7.7 सारांश

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.9 बोध प्रश्नों केउत्तर

7-0 mís';

इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप सक्षम होंगे :

- प्रजाति, प्रजातिवाद के विचार को परिभाषित करना;
- नृजातीय समूह की परिभाषा और उसकी विशेषताएं बताना;
- जैविक, वंशानुगत, सांस्कतिक एकरूपता तथा नृजातीय स्वचेतना पर आधारित विभिन्न अवधारणाओं के बारे में समझ सकेंगे;

- सांस्कृतिक नृजातीयता तथा राजनीति नृजातीयता की मदद से नृजातीयता के उदय भी व्याख्या करना;
- नृजातीय स्तरीकरण और नृजातीय राष्ट्रवाद के बारे में बता सकेंगे; और
- राष्ट्र और नृजातीय समूह, राष्ट्रीयता और नृजातीयता के बीच अंतर करते हुए भारत के विशेष संदर्भ में नृजातीय, राष्ट्रवाद के बारे में बता पाएंगे।

7-1 çLrkouk

आपने धर्म के मूल विचारों और समाज से इसके संबंध के बारे में सीखा। यह इकाई प्रजाति और नृजातीयता के विचार पर चर्चा करेगी। वर्तमान समय की कुछ सामाजिक घटनाओं का वर्णन करने के लिए इन अवधारणाओं का अक्सर उपयोग किया जाता है। यहां, हम शुरू में प्रजाति और नृजातीयता, प्रजातीय समूह, की विशेषताओं आदि की शास्त्रीय परिभाषाओं को समझने की कोशिश करेंगे। हम प्रजाति और नृजातीयता को समझने के लिए नृजातीयता के विभिन्न सिद्धांतों की भी विस्तृत चर्चा करेंगे और यह जानेंगे कि आज की दुनिया में यह कैसे काम करता है। प्रजाति और नृजातीयता का उपयोग समाजशास्त्रीय विमर्श में सत्ता, असमानता, स्तरीकरण आदि की विभिन्न सामाजिक संरचनाओं को समझने के लिए किया जाता है। हालांकि, प्रजाति और नृजातीयता जैसी अवधारणाओं को जैविक माना जाता है, बल्कि ऐसी अवधारणाओं के गहरे अर्थ और सामाजिक निर्माण निभाते हैं। इसके अलावा, वे केवल सामाजिक निर्माण नहीं हैं, बल्कि वे विभिन्न सामाजिक समूहों की पहचान और हाशिए के निर्माण का नेतृत्व करते हैं। आइए हम उन्हें और अधिक स्पष्ट तरीके से समझने के लिए उनसे जुड़ी इन अवधारणाओं और विचारों को विस्तार से बताएं।

7-2 çtkfr dh ifjHkk"kk

एक आम बोलचाल की भाषा में विभिन्न मनुष्यों की बाहरी शारीरिक विशेषताओं के रूप में समझा जाता है जिसका वर्गीकरण त्वचा की रंग, चेहरे की विशेषताओं, ऊँचाई आदि जैसी विशेषताओं पर निर्भर करता है। प्रजाति इस प्रकार कुछ शारीरिक विशेषताओं के कारण मानव की एक श्रेणी है जिसमे शामिल होती हैं त्वचा के रंग और अन्य चेहरे की विशेषताएं आदि । यदि हम विभिन्न महाद्वीपों और देशों के लोगों को देखते हैं, तो हम देखेंगे कि यूरोप के अधिकांश लोग काफी हद तक साफ त्वचा वाले हैं जहां अफ्रीका के लोग अक्सर काली त्वचा वाले होते हैं। त्वचा के रंग के अलावा, कुछ लोगों के घुंघराले बाल होते हैं, कुछ के बाल सीधे होते हैं, कुछ लोगों के बाल छोटे होते हैं और कुछ अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं। इसी तरह, हम नाक, होंठ, आदि के आकार और उसमें अंतर देख सकते हैं। इन भेदों पर ध्यान केंद्रित करते हुए लोगों को विभिन्न समूहों में जोड़ा जाता है जिन्हें लोकप्रिय रूप से प्रजाति के रूप में जाना जाता है, जैसे कि काकेशियान, मंगोलॉयड, नेगोरॉयड, आदि। इन श्रेणियों को जैविक माना जाता है। यह उन्हें विरासत में मिला है, इसलिए व्यापक रूप से प्रजाति को एक जैविक श्रेणी के रूप में माना जाता है। इस प्रकार, एक नस्लीय समूह को समान शारीरिक लक्षणों वाले समूह के रूप में वर्णित किया जाता है। यह एक ऐसी स्थिति है जहां एक समूह अपने बीच समान विशेषताओं को देखता है और दूसरों को अलग–अलग देखता है। इस तरह के विभाजन 18 वीं शताब्दी के दौरान मूल रूप से

भौतिक मानवविज्ञानी द्वारा किए गए थे और उन्हें मानव के वैज्ञानिक वर्गीकरण के रूप में माना जाता था।

प्रजाति का विचार 18वीं और 19वीं शताब्दी के दौरान उभरा जब यूरोपीय देशों ने बाकी दुनिया को उपनिवेश बनाना शुरू किया। इस तरह के वर्गीकरण ने गोरों को अन्य आबादी से, साथ ही वर्चस्व और विजय पर वर्चस्व स्थापित करने में मदद की। गोरों के नृकेंद्रिकतावाद ने उन्हें शारीरिक दिखावे के संदर्भ में मनुष्यों को प्रजातियों के रूप में देखने के बजाय रोका। शारीरिक विशेषताओं के साथ–साथ अधिकांश समय व्यवहार संबंधी विशेषताओं को भी विभिन्न प्रजातियों में जोड़ा गया। फ्रेडरिक फरार ने 1866 में ''राइट्स ऑफ राइट्स'' पर व्याख्यान दिया, जहां उन्होंने लोगों को सभ्यता के आधार पर 3 समूहों में विभाजित कियाः

vlH; : सभी अफ्रीकी, स्वदेशी लोग, रंग के लोग (चीनी के अपवाद के साथ)।

vn/k vlH; : चीनी जो एक बार बर्बर प्रकार के थे, लेकिन अब अच्छी तरह से सभ्य हैं।

lH; : यूरोपीय, आर्यन और सेमेटिक लोग।

जर्मन टैक्सोनोमिस्ट(वर्गीकरणविद) केरोलस लिनिअस, ने त्वचा के रंग के आधार पर मानव को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया :

1) अमेरिकन (लाल)
2) यूरोपीय (सफेद)
3) एशियाई (पीला)
4) अफ्रीकी (काला)

उन्होंने यह भी कहा कि अमेरिकी बीमार स्वभाव वाले, दब्बू, यूरोपीय गंभीर और मजबूत होते हैं, एशियाई उदासीन और लालची होते हैं, और अफ्रीकी निडर और आलसी होते हैं।

हालाँकि, प्रजाति को जैविक माना जाता है लेकिन समाजशास्त्रीय समझ में, प्रजाति को जैविक के बजाय सामाजिक निर्माण माना जाता है। कई लेखक प्रजाति को सामाजिक स्तरीकरण की श्रेणी के रूप में मानते हैं। स्मेडली (1998) का तर्क है कि 17 वीं शताब्दी तक कोई ऐतिहासिक रिकॉर्ड नहीं था कि प्रजाति का विचार मौजूद था। वह आगे तर्क देते हैं कि दौड़ ''मानव पहचान का प्रमुख स्रोत'' है (स्मेडली Smedley, 1998, पृष्ठ 690)। वह ऐसा कहते हैंः "प्रजाति शब्द का उपयोग कभी–कभी मनुष्यों को अंग्रेजी भाषा में सोलहवीं शताब्दी से संदर्भित करने के लिए किया जाता था, लेकिन दास व्यापार में आबादी का उल्लेख करने के लिए शायद ही कभी इस्तेमाल किया गया था। यह एक मात्र शास्त्रीय शब्द था जैसे कि प्रकार, या यहां तक कि प्रजाति, या कुल और इसका अठारहवीं शताब्दी तक कोई स्पष्ट अर्थ नहीं था। इस काल के दौरान, अंग्रेजों को विविध आबादी के साथ व्यापक अनुभव होने लगे और धीरे–धीरे उन मनोवृत्तियों और विश्वासों को विकसित किया जो पश्चिमी इतिहास में पहले नहीं दिखाई दिए थे। यह मानव अंतर की एक नई तरह की समझ और व्याख्या को दर्शाता है।''

यूरोपीय लोगों ने अफ्रीका, एशिया और अन्य देशों के कुछ हिस्सों का औपनिवेशीकरण किया और दूसरों पर श्रेष्ठता के उनके दावे को सही ठहराया। उन्होंने धर्म, मान्यताओं और कभी विज्ञान की मदद ली। उन्होंने अश्वेतों के वर्चस्व और गोरों के अन्य अधिकारों की गुलामी को वैधता दी। गोरों की प्रजातीय श्रेष्ठता की ऐसी मान्यताएँ जो उन्हें विश्वास करती थीं कि उन्हें अन्य आबादी को उपनिवेश बनाने का अधिकार दिया गया है। प्रजातीय भेद और भौतिक विशेषताओं ने इस विचार को सामान्य कर दिया कि गोरे श्रेष्ठ हैं और अन्य मनुष्य के छोटे रूप हैं।

7-2-1 lkekftd fuekZ.k d: i esa izkfr

हालांकि यह व्यापक रूप से कई लोगों द्वारा माना जाता है कि प्रजाति एक जैविक श्रेणी है लेकिन, समाजशास्त्री, सामाजिक वैज्ञानिक और यहां तक कि जीवविज्ञानी तर्क देते हैं कि प्रजाति एक जैविक या विरासत की श्रेणी नहीं है, बल्कि यह एक सामाजिक निर्माण है। जैसा कि हमने शुरू में ऊपर उल्लेख किया है, यह माना जाता था कि प्रजाति जैविक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है लेकिन आजकल इसे एक मिथक के रूप में माना जाता है। प्रजाति और उसके आनुवांशिकी के जैविक अध्ययनों से संकेत मिलता है कि तथाकथित प्रजाति के भीतर प्रजाति के बीच की तुलना में बहुत अधिक विविधताएं पाई जाती हैं। इसका मतलब है कि प्रजाति के नाम पर लोगों को अलग करने के लिए कोई विशेष आनुवंशिक चिह्नक नहीं हैं। एक ही प्रजाति के दो लोगों में अलग–अलग प्रजातियों के लोगों की तुलना में कभी–कभी अधिक अंतर होता है। कई बार लोगों की विविधता भौगोलिक स्थानों से प्रभावित होती है। इसलिए, लोगों को वर्गीकृत करने का कोई जैविक आधार नहीं है। उनके वर्गीकरण का एक सामाजिक आधार है। इसका अपना इतिहास है और लोगों को वर्गीकृत करने की राजनीति है। प्रजातीय पहचान का निर्माण लोगों के बीच सोपान के निर्माण की एक प्रक्रिया है, जिससे, कुछ समूह शक्ति और विशेषाधिकारों का उपभोग करते हैं। इसलिए प्रजाति के विचार का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। त्वचा में रंगद्रव्य और श्यामता की उपस्थिति के कारण लोगों की त्वचा का रंग बदलता है।

7-2-2 çtkfrokn

जैसा कि इतिहासकार और अन्य विद्वान इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मानव अफ्रीका में उत्पन्न हुआ और इतिहास के विभिन्न चरणों में विभिन्न भौगोलिक स्थानों पर चला गया। लोगों ने भौगोलिक अंतर को अपनाया और इन विशेष वातावरणों में उपयुक्त अनुकूल लक्षणों को अपनाया। इसके अलावा, लोगों के बीच इतना अंतर है कि जैविक श्रेणी पहले ही सिमट चुकी है।

18वीं और 19वीं शताब्दी के दौरान दुनिया के विभिन्न स्थानों में औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए प्रजातिवाद का इस्तेमाल किया। यहां तक कि उन्होंने अपने प्रजातीय वर्चस्व और मतभेदों को स्थापित करने के लिए धर्म और विज्ञान की मदद ली। डार्विन के सिद्धांत ''योग्यतम की उत्तरजीविता'' औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा उनके नरसंहार औरप्रजातिवाद को सही ठहराने के लिए इस्तेमाल किया गया था। इस सिद्धांत का मतलब है कि बलवान जीवित रहेगा और कमजोर मर जाएगा। वे खुद को दूसरों की तुलना में अधिक शक्तिशाली मानते थे और इसलिए, उन्होंने सत्ता और प्रजाति के अपने वर्चस्व को वैधता दी। उपनिवेशवादियों ने अश्वेतों और अन्य उपनिवेशित लोगों की अधीनता बनाने के लिए दासता के साथ–साथ बहुत

से अन्य मिथकों को भी वैध बनाया। प्रजाति 'अन्यता' के निर्माण की एक प्रक्रिया है, यानी वह प्रक्रिया जिससे आप खुद को श्रेष्ठता और हीनता के मामले में अन्य लोगों से अलग करते हैं। यह भी एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कुछ लोग हाशिए पर हैं, हावी हैं और नियंत्रित हैं। यह हमारे समाज में विभिन्न प्रकार की रूढ़ियाँ भी बनाता है। प्रजातीय वर्गीकरण को इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए बनाया गया था कि गोरे दूसरों से श्रेष्ठ हैं और उन्होंने इसे वैधता भी दी है। इस प्रकार, प्रजाति का विचार वैज्ञानिक नहीं था, बल्कि समूहों के प्रजातिकरण की एक प्रक्रिया थी। हम कह सकते हैं कि प्रजाति एक सामाजिक निर्माण था जहां सांस्कृतिक अर्थ जुड़ा हुआ है या उस पर आरोपित है। यहां तक कि समय के साथ प्रजाति का विचार भी बदल गया है। उदाहरण के लिए, ब्राजील और अन्य देशों में, वर्ग की स्थिति रंग से अधिक महत्वपूर्ण है। यहां तक कि श्वेत प्रभुत्व वाले देशों में भी अंतर–जातीय विवाह हो रहे हैं। हालाँकि, यह बताया जा रहा है कि प्रजाति एक सामाजिक निर्माण है।

lkp vkj dj 1

इंटरनेट से, स्पिलबर्ग द्वारा फिल्म डाउनलोड करें, ''शिंडलर्स लिस्ट'' या द्वितीय–विश्व युद्ध के दौरान सर्वनाश के शिकार के रूप में लिखित ऐनी–फ्रैंक्स डायरी, जब यहूदियों को यूमेस (सामूहिक) मे मार दिया गया था। कम से कम दो पृष्ठों में 'जातिवाद' पर एक निबंध लिखें और अपने अध्ययन केंद्र में अन्य छात्रों के साथ चर्चा करें।

ck/k ç'u 1

1) लगभग 10 लाइनों में प्रजाति की अवधारणा को परिभाषितकरें और उस पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रजातिवाद से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

7-3 u'tkrh;rk% bfrgkl] ifjHkk"kk vkj mldk ?kVd

आइए, अब हम नृजातीयता के इतिहास, उसकी परिभाषा और उसके घटकों के बारे में जानें। 'जातीय' (एथनिक) शब्द का एक लंबा इतिहास है। इस शब्द की उत्पत्ति ग्रीक

शब्द एथनोस से हुई है जिसका अर्थ राष्ट्र है, लेकिन इसे एक राजनीतिक इकाई मानने के बजाए एक रक्त या वंश वाले व्यक्तियों की इकाई माना जाता है। इसके विशेषणात्मक पर्याय एथनिकोस, जिसे लैटिन में एथनिकस कहा जाता है, का अभिप्राय गैर ईसाई, उन 'अन्य लोगों' से है जिनकी आस्था दूसरे धर्म या मत में है। अंग्रेजी में लंबे समय तक इस शब्द को उन लोगों के लिए प्रयोग किया जाता रहा जो न तो ईसाई हैं और न ही यहूदी यानी मूर्तिपूजक। इसे अगर हम दूसरे शब्दों में कहें तो नृजातीय लोग वे 'अन्य लोग' थे जो 'हम' जैसे नहीं थे। लेकिन बीसवीं सदी में इस के ग्रीक मूल को फिर से प्रयोग में लाया जाने लगा। इसका अर्थ बदल दिया गया और "वे बनाम हम'' का भाप खत्म हो गया। मगर इसे अब 'अन्य लोगों' को ही नहीं बल्कि हम लोगों' को भी परिभाषित करने के लिए एक खास तरीके के रूप में प्रयोग किया जाता है।

नृजातीय लोगों के फ्रेंच पर्याय, एथनी का प्रयोग करते हुए ऊमेन उन्हें ऐसे लोगों के रूप में परिभाषित करते हैं जिनकी विशेषता एक साझा इतिहास. साझी परंपरा, भाषा और जीवनशैली होती है। मगर इस परिभाषा के साथ उन्होंने 'घर या जड़ से उखड़ने' की भावना को भी जोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में उनके अनुसार नृजातीयता तब बनती है जब सैनिक विजय, उपनिवेशीकरण या पलायन के कारण लोग अपनी मातृभूमि, अपनी मिट्टी से उखाड़ दिए जाते हैं और एकदम नए वातावरण में विभिन्न प्रकार के समूह एक–दूसरे के संपर्क में आते हैं। इस तरह से विस्थापित लोग जब अपनी भूमि से दूर होते हुए भी अपनी देशीय' जीवन शैली को ही अपनाते हैं तो उन्हें नृजातीय लोग कहा जाता है।

7-4 u'tkrh;rk dh vkjfHkd /kkj.kk

उपलब्ध साहित्य पर दृष्टिपात करने से हमें नृजातीयता की तीन प्रचलित धारणाओं का पता चलता हैः जैविक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक। जैविक धारणा एक सामूहिक आनुवंशिक उत्पत्ति यानी वंशक्रम पर आधारित है। इसका मतलब यह हुआ कि नृजातीयता को प्रजाति के पर्याय के रूप में ही लिया गया है। आंरभिक अध्ययनों में जैविक कारकों को ही नृजातीयता के घटकों के रूप में लिया गया और उपनिवेशवाद के संदर्भ में प्रजाति और नस्लवाद की उत्पत्ति पर अधिक ध्यान दिया गया। इस नज़रिए में नृजातीयता के सांस्कृतिक पहलू को पूर्णतः अनदेखा कर दिया गया था। नृजातीयता की दूसरी अवधारण एक नया चिंतन, एक नयी सोच लेकर चली, जिसने प्रजाति को नृजातीयता से अलग किया। इस नज़रिए में प्रजाति को एक सांस्कृतिक पहलू के रूप में देखा गया। इसमें नृजातीय समूह को परिभाषित करने के लिए सिर्फ समान शारीरिक लक्षणों को ही काफी नहीं समझा गया बल्कि विभिन्न समूहों में विद्यमान सांकेतिक अंतरों को इसमें नृजातीयता का आधार बनाया गया है। जैसे मूल्य प्रथाएं, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, जीवनशैली, अंचल इत्यादि के अलावा भाषा और धर्म नृजातीयता के महत्वपूर्ण प्रतीक बन गए हैं।

नृजातीयता की तीसरी धारणा इसे एक सामूहिक, साझी पहचान की चेतना के रूप में परिभाषित करती है। समान उत्पत्ति या वंशक्रम और सांस्कृतिक विशिष्टता दोनों को अलग–अलग या एक साथ नृजातीयता को परिभाषित करने के लिए अब पर्याप्त नहीं माना जाता। किसी समूह में जो मौजूद है वह महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि उसमें जो देखा और माना जाता है, उसे ही नृजातीयता के आधार के रूप में लिया जाता है।

इसे सरल तरीके से कहें तो शारीरिक, मनोवृत्तीय, व्यावहारिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का समान रूप से होना ही नृजातीयता की भावनाएं जगाने के लिए पर्याप्त नहीं होती बल्कि समूह को अपने आपको अन्य से भिन्न और विशिष्ट देखना–समझना होता है, जिसका यही अभिप्राय है कि उसके सदस्यों को अपने आपको एक समूह के रूप में दर्शाना चाहिए।

7-4-1 u'tkrh; leg

पॉल ब्रास के अनुसार नृजातीय समूह को परिभाषित करने के तीन तरीके हैंः (क) उसे उसकी वस्तुनिष्ठ विशेषताओं के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है, (ख) उसे उसमें प्रचलित व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं और (ग) व्यवहार के आधार पर पारिभाषित किया जा सकता है। इस तरह पहली परिभाषा का यह मतलब निकलता है कि एक समूह में कुछ ऐसी विभेदी वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक विशेषताएं विद्यमान होती हैं जो उसे अन्य समूहों से अलग करती हैं जैसेः भाषा, अंचल, धर्म, वेशभूषा इत्यादि जिन्हें हम नृजातीय चिन्हक कहते हैं। इन्हीं के माध्यम से एक नृजातीय समूह और दूसरे नृजातीय समूह में विद्यमान भेदों को व्यक्त किया जाता है और उन्हें बनाए रखा जाता है। इसलिए एक नृजातीय समूह, उदाहरण के लिए, दूसरे नृजातीय समूह के साथ आर्थिक क्रियाकलाप के उद्देश्य से परस्पर प्रभावी व्यवहार करता है, तो उसके वस्तुनिष्ठ नृजातीय चिन्हक उसकी पृथक सामूहिक पहचान की निरंतरता सुनिश्चित करते हैं। दूसरा पहलू यानी व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं की उपस्थिति का मतलब है समूह में नृजातीय स्वचेतना का मौजूद होना। जैसा कि हमने पीछे बताया है नृजातीय बंधुता के मूल में वास्तविक या काल्पनिक सामूहिक पहचान होती है। यहां गौर करने की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि एक साझी उत्पत्ति या साझे वंशक्रम का होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसमें विश्वास करना। महत्वपूर्ण यह है लोग क्या सोचते–समझते हैं। दूसरे शब्दों में नृजातीयता एक व्यक्तिनिष्ठ रचना या प्रस्थापना है। हम अपने आपको किस तरह देखते हैं यह वही है। इसका तीसरा आयाम व्यवहार है, जो ठोस, विशेष तरीकों की उपस्थिति के बारे में बताता है जिसमें नृजातीय समूह अन्य समूहों के संबंध में या उनके साथ परस्पर प्रभावी क्रिया के रूप में व्यवहार करते हैं या नहीं करते। इसका मतलब यह है कि एक नृजातीय समूह का अपना एक मानकीय व्यवहार या आचार संहिता होती है जिसमें नातेदारी, विवाह, मित्रता, धार्मिक अनुष्ठान की रीतियां इत्यादि शामिल हो सकती हैं।

7-4-2 u'tkrh; rk d çe[k ?kVd

इस प्रकार नृजातीय समूह एक ऐसा समूच्चय है समाज जिसे अन्य समूह से भाषा, धर्म, प्रजाति , पैतृकगृह, संस्कृति इत्यादि में भिन्न मानते हैं और जिसके सदस्य स्वयं भी अपने आपको दूसरों से भिन्न मानते हैं और जो अपनी वास्तविक या मिथकीय सामूहिक उत्पत्ति और संस्कृति के इर्द–गिर्द रचित साझे क्रियाकलापों में हिस्सा लेते हैं। इन परिवर्ती कारकों के आधार पर एक समूह बमुश्किल नृजातीय से लेकर पूर्णतः नृजातीय 'हो सकता है। वृहत्तर समाज में यह एक ऐसा समुच्चय है जिसकी विशेषता एक वास्तविक या काल्पनिक साझी वंश–परंपरा, एक साझे ऐतिहासिक अतीत की समृतियां जैसे घटक हैं और जिसका सांस्कृतिक केन्द्र–बिन्दु नातेदारी के पैटर्न, धार्मिक संबंध, भाषा या बोली रूप इत्यादि जैसे एक या अधिक सांकेतिक घटक होते हैं। इसके अलावा नृजातीय समूह के सदस्यों में एक ही जाति का होने की चेतना भी

इसके लिए उतना ही प्रासंगिक है। इस प्रकार नृजातीयता और नृजातीय समूहों की अधिकांश परिभाषाएं वस्तुनिष्ठ और अनैच्छिक बाहरी चिन्हकों के साथ–साथ व्यक्तिनिष्ठ और ऐच्छिक आंतरिक चेतना को इसका प्रमुख घटक मानकर चलती हैं।

u'tkrh;rk d çeq[k ?kVd

नृजातीयता के दो प्रमुख घटकों यानी वस्तुनिष्ठ बाह्य चिन्हकों और व्यक्तिनिष्ठ चेतना को ही अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इसका कारण यह है कि आनुवशिक और सांस्कृतिक समानताओं को सामाजिक अस्तित्व के लिए "स्वीकृत" माना जाता है मगर यह भी नृजातीयता की आंशिक व्याख्या है क्योंकि यह इस बुनियादी प्रश्न का समाधान नहीं करती है कि आखिर इस चेतना को कौन जन्म देता है। कूपर और स्मिथ (1969) और गैस्टिल (1978) जैसे विद्वानों का यह मानना है कि जब विभिन्न नृजातीय समूह एक–दूसरे के संपर्क में आते हैं और परस्पर प्रभावी क्रिया करते हैं तो इससे नृजातीय चेतना उत्पन्न होती. है। मगर यह भी संतोषजनक व्याख्या नहीं है कि संपर्क को हो जाने मात्र से नृजातीय चेतना आ जाती हो। इसलिए इस प्रश्न का समाधान करने के लिए जरूरी है कि सांस्कृतिक नृजातीयता और राजनीतिक नृजातीयता में भेद स्पष्ट हो।

cks/k ç'u 2

1) नृजातीय समूह क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) नृजातीयता के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य पर पांच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

7-5 ledkyhu ifjç{;

कुछ ही समय पहले नृजातीयता पर दो प्रमुख परिप्रेक्ष्य उभरे हैं। इन समकालीन परिप्रेक्ष्यों में एक नृवैज्ञानिक और दूसरा राजनीतिक परिप्रेक्ष्य है। नृजातीयता का नृवैज्ञानिक या सांस्कृतिक दृष्टिकोण साझे सांस्कृतिक मूल्यों और प्रथाओं में विश्वास को लेकर चलता है। इस अर्थ में, नृजातीय समूह को उसके सांस्कृतिक पहलुओं की रोशनी में परिभाषित किया जाता है जैसे सामूहिक प्रथाएं, संस्थाएं, धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि। नृजातीयता की यह धारणा इस प्रकार्यवादी दृष्टिकोण पर आधारित है कि

लोगों को कहीं न कहीं। एक दूसरे से लगाव की भावना की जरूरत पड़ती है जो उन्हें दबावों या संकटकाल में टिके रहने की शक्ति देती है। यह शक्ति उन्हें नृजातीय पहचान से प्राप्त होती है। ऐसा माना जाता है कि नगरीकरण के उदय, आर्थिक उन्नति, प्रौद्योगिक उन्नति, जनशिक्षा, जनसंचार माध्यमों के विकास के साथ–साथ व्यक्ति को अपनी परंपराओं और आद्य पहचान के खोने का डर भी रहता है। मगर इस प्रक्रिया में नृजातीय पहचान कमजोर होने के बजाए और अधिक मजबूत होती है क्योंकि एक बड़े समाज में व्यक्ति को किसी न किसी किस्म की पहचान की जबर्दस्त जरूरत महसूस होती है। यह पहचान राज्य से छोटी मगर परिवार से बड़ी होती है।

7-5-1 u'tkrh;rk vkj çdk;kokn

गौर करने की बात यह है कि प्रकार्यवाद की हमेशा से यह धारणा नहीं रही है। असल में आंरभ में इसकी धारणा यह थी कि नृजातीय समूह जैसे 'अप्रचलित' प्रदत्त समुच्चयों का आधुनिक समाज में कोई स्थान नहीं है। यह समझा जाता था कि सर्वमुक्तिवादी और उपलब्धि उन्मुखी आधुनिक समाज में नृजातीय और सांस्कृतिक भेदों में कमी आती है और पूरा समाज अधिकाधिक समरूप, समांगी हो जाता है। इसके फलस्वरूप नृजातीय भेद भी क्षीण पड़ जाते हैं। केर और उनकी सहयोगी, रोस्टो और हेडन जैसे कुछ विद्वानों ने इसे बाजार (आर्थिक) शक्तियों की समांगीकारी प्रभाव का फल बताया है। वहीं गेलनर जैसे दूसरे विद्वान कहते हैं कि राष्ट्रवादी (राजनीतिक) रुझानों के उदय ने समाजों को एकता के सूत्र में बांधा . जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक और नृजातीय भेद लुप्त हो जाते हैं।

> **lkp vkj djsa 2**
>
> आधुनिक समाज में नृजातीयता का अंत क्यों नहीं होता? इस प्रश्न पर अपने सहपाठियों और जानकार लोगों से चर्चा कीजिए। आपको इस चर्चा से जो भी जानकारी हासिल हो उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

मगर इसके विपरीत ग्लेजर जैसे विद्वान कहते है कि आधुनिक समाज में नृजातीयता लुप्त होने के बजाए बल्कि असल में वह पुनर्जीवित हो जाती है। यही नहीं नृजातीय पहचान की बढ़ती महत्ता या जातीयकरण का श्रेय आधुनिकीकरण की स्थितियों को ही जाता है। इस प्रकार आइजनस्टैद, मरफी और वालरस्टीन जैसे विद्वान कहते हैं कि उन्हें आधुनिक विश्व में विजातीय करण के कोई लक्षण नज़र नहीं आते बल्कि हमें इसमें विशिष्टतावादी रुझान देखने को मिलते हैं। शर्मा भारतीय समाज से उदाहरण देकर इसे अच्छी तरह से सिद्ध करते हैं, जिसमें आधुनिकीकरण के प्रौद्योगिकी, संस्थायी, मूल्यात्मक और व्यवहार संबंधी तमाम लक्षणों के बावजूद नृजातीयता का सबसे ज्यादा बोलबाला है। उदाहरण के लिए, खानपान, वेशभूषा और आंतरिक सज्जा की दृष्टि से अगर किसी व्यक्ति का घर नृजातीय है तो उसे उत्तम और सुंदर कहा जाता है। इसी प्रकार यूनानी लोकतंत्र जैसी आधुनिक संस्था ने धर्म, जाति इत्यादि की आध चेतना को फिर से जगा दिया है। संक्षेप में कालांतर के.प्रकार्यवादी विद्वान आधुनिकीकरण के बावजूद या उसके कारण भी नृजातीयता के अटल सत्य को स्वीकार करते हैं।

7-5-2 u'tkrh;rk dk jktuhfrd ifjç{;

वर्तमान काल में नृजातीयता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य ही अधिक लोकप्रिय है। यह नृजातीयता के आधार पर एक समूह की राजनीतिक चेतना और उसकी गोलबंदी है। इसके फलस्वरूप कुछ समूह सचेतन रूप से अपनी नृजातीयता को जोरदार ढंग से पेश करते हैं। कभी–कभी वे अपनी नृजातीय विशेषताओं को बढ़ा–चढ़ा कर भी पेश करते हैं ताकि वे राजनीतिक स्वायत्तता या संप्रभुता का लक्ष्य हासिल कर सकें। इसका यहां यह तर्क दिया जाता है कि पूंजीवाद के उदय से असमान विकास हआ है जिसके फलस्वरूप लोगों में संकीर्ण। निष्ठाएं और नृजातीय स्वचेतना प्रबल हो जाती हैं। नृजातीयता पर अभी तक जितने अध्ययन–शोधकार्य हुए हैं उनमें से अधिकांश साहित्य का मुख्य विषयवस्त भेदभाव रहा है। ये अध्ययन बताते हैं कि वंचित समह , संसाधनों के वितरण को जिस नज़रिए से देखते हैं वह किस तरह से उनमें नृजातीय चेतना लाता है। उदाहरण के लिए, सांस्कृतिक रूप से बहुविध समाज में एक अल्पसंख्यक समूह को अगर बहुसंख्यक समूह अपने विशेषाधिकारों की सिद्धि के लिए शोषण का रवैया अपनाकर उसे दबाता है तो ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यक समूह राजनीतिक नृजातीयता का विकल्प चुन सकता है। तब भेदभाव का विरोध करने के लिए अल्पसंख्यक समुदाय अपनी एक नृजातीय पहचान बनाने लगता है या उसे ईजाद कर लेता है। राजनीतिक कारणों के लिए भी समूह आद्यनिष्ठाओं का दोहन भी कर सकते हैं जिनका इस्तेमाल वे अपने राजनीतिक हितों को साधने और अपने सत्ताधिकार को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने के लिए कर सकते हैं। समूह हितों का प्रतिनिधित्व करने और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए नृजातीयता का इस्तेमाल किस तरह से किया जाता है, इसका एक बड़ा उदाहरण हमें राजनीति में इसके प्रयोग से मिलता है। नृजातीय समूह राजनीतिक मंच से अपनी स्थिति में बदलाव लाने, अपने आर्थिक कल्याण, शैक्षिक अवसरों, नागरिक अधिकारों इत्यादि के लिए अपनी नृजातीयता का प्रयोग करते हैं। इसका सीधा सा मतलब यही है कि नृजातीयता हितों पर आधारित होती है और नृजातीय समूह कुछ और नहीं बल्कि हित समूह हैं। शर्मा इन दोनों श्रेणियों को क्रमशः सामान्य और उदीयमान नृजातीयता की संज्ञा देते हैं। अपने सामान्य अर्थ में नृजातीयता एक पहचान है जिसका आधार कुछ वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक चिन्हक होते हैं। ये चिन्हक एक समूह के सदस्यों को अपने को दूसरों से अलग करने और दूसरे समूहों द्वारा भी उन्हें अलग पहचानने में सहायक होते हैं। इस अर्थ में, नृजातीय समूह एक परिबद्व सांस्कृतिक समूह होता है जिसमें कुछ खास विभेदी लक्षण होते हैं जो उन्हें अन्य समूहों से अलग रखते हैं। यहां हमें विभिन्न समूहों की सांस्कृतिक विविधता की चेतना का पता चलता है। मगर यह चेतना जब राजनीतिक विभेदन बन जाती है तो उदीयमान नृजातीयता जन्म लेती है जिसकी विशेषता सत्ताधिकार की प्रक्रिया है।

c,Dl 7-0-1

नृजातीयता की उत्पत्ति और पुनरुत्थान के मूल में अंतःसमूह संपर्क है यानी जब विभिन्न प्रकार के समूह एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में आते हैं तो यह जो आकार लेता है वह उस समाज विशेष में मौजूद स्थितियों पर निर्भर करता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नृजातीयता का इस्तेमाल शोषित समूह अपनी अस्मिता की मौजूदा मांगों की पूर्ति के लिए करते हैं। जब दबे–कुचले समूहों के लिए अन्य लोगों का

प्रभुत्व, उनका वर्चस्व असह्य हो जाता है और वे अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करने लग जाते हैं तो इससे नृजातीयता उत्पन्न होती है।

7-6 u`tkrh; Lrjhdj.k

स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा लोगों को उनकी संपदा, सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा के आधार पर असमान रूप से श्रेणियों में बांटा जाता है और उसी के अनुरूप उन्हें पुरस्कृत किया जाता है। यह हर समाज का एक अनिवार्य अंग है और यह अलग–अलग रूपों में हो सकता है जैसे वर्ग, जेंडर (सामाजिक–लिंग सोच), प्रजाति और नृजातीयता। सामाजिक स्तरीकरण पर हुए आंरभिक अध्ययनों का मुख्य विषय जाति और प्रजाति थे। मगर सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) और नृजातीयता को इनमें पार्श्व मुद्दों के रूप में लिया गया। पर अब नृजातीयता और सामाजिक लिंग सोच को सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन–विश्लेषण में महत्व मिलने लगा है। यही नहीं, सामाजिक विभाजन के सबसे पहले रूप में वर्ग की जगह अब नृजातीय स्तरीकरण ले रहा है क्योंकि अब संपति संबंध नृजातीय श्रेणीकरण से निर्धारित होने लगे हैं। नृजातीय पुनरुत्थान और द्वंद्वों का विश्लेषण करने के लिए आंतरिक उपनेशवाद का मॉडल प्रयोग किया जा रहा है। इस मॉडल में प्रभावी समूह द्वारा अल्पसंख्यक समूहों पर राजनीतिक नियंत्रण, उनका आर्थिक शोषण और उन पर सांस्कृतिक वर्चस्व बनाए रखना और फिर इस विषम, संबंध को विचाराधारा की आड़ लेकर न्याययोचित ठहराना, इन सब पहलुओं को उठाया जाता है। नृजातीय स्तरीकरण की कई बातें स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों से मिलती है। जैसेः श्रेणीकरण, असमानता, भेदभाव, शोषण इत्यादि। मगर दोनों में एक महत्वपूर्ण अंतर भी मौजूद है। नृजातीय समूहों में एक स्वतंत्र राष्ट्र बनने की क्षमता होती है। यह विकल्प वर्ग और सामाजिक लिंग (जेंडर) समूहों को हासिल नहीं है।

7-6-1 u`tkrh; jk"Vªokn

नृजातीय समूह की सदस्यता समाज में व्यक्ति की स्थिति, उसकी हैसियत को तय करती है। यह दो तरीके से होता है। धन, प्रतिष्ठा और सत्ताधिकार जैसे सामाजिक पारितोषिकों का आबंटन अक्सर नृजातीय आधार पर होता हैं। दूसरा, अधिकांश समाजों में एक या अधिक नृजातीय समूहों का दूसरे समूहों पर आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मामलों में वर्चस्व होता है। इसलिए नृजातीय राजनीति नृजातीय स्तरीकरण का स्वरूप धारण कर सकती है जिसके फलस्वरूप नृजातीय राष्ट्रवाद का उदय होता है। जैसा कि हमने पीछे कहा है नृजातीय पहचान का संबंध राजनीतिक आवश्यकतओं और मांगों से हो सकता है। ऐसा तब होता है जब एक बहुबिध समाज में अल्पसंख्यक समूह अपने लिए बेहतर सौदा हासिल करने के लिए नृजातीयता का पत्ता फेंकते हैं। मगर कुछ नृजातीय समूह इसमें एक कदम आगे बढ़ जाते हैं और राजनीतिक व्यवस्था में हक या एक अंचल पर अपना नियंत्रण या फिर राष्ट्र का दर्जा भी मांगने लग जाते हैं। ये समूह अगर इसमें से किसी भी उद्देश्य में सफल हो जाते हैं तो वे एक राष्ट्रीयता या राष्ट्र बन जाते हैं।

7-6-2 jk"Vª vkj u`tkrh; leg

राष्ट्र, राष्ट्र राज्य, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक इत्यादि धारणाए पश्चिमी यूरोप में पूंजीवाद के उदय के साथ–साथ उपजी और शेष विश्व में फैलीं। राष्ट्र शब्द लैटिन

शब्द नैसाई और लैटिन संज्ञा नेशोनेम से बना है जिनका अर्थ क्रमशः 'जन्म लेना' और 'प्रजातिया' 'नस्ल' है। यह ऐतिहासिक रूप से विकसित, भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन और मनोवैज्ञानिक रचना की स्थायी एकरूपता है जिसे हम साझी संस्कृति के रूप में देख सकते हैं। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि राष्ट्र एक प्रकार का नृजातीय संप्रदाय है, जिसका राजनीतिकरण हो चुका है और जिसने राजनीतिक व्यवस्था में समूह अधिकारों को स्वीकार कर लिया है।

c,Dl 7-02

राष्ट्र के कई अर्थ हैं जैसे देश, समाज, राज्य और नृजातीय समूह। इसे एक देश के रूप में या एक अकेली स्वतंत्र सरकार यानी राज्य के अधीन संगठित देश के वासियों के रूप में परिभाषित किया गया है। मगर इसे ऐसे लोगों के रूप में भी परिभाषित किया जाता है जो तथाकथित रक्त संबंधों से परस्पर जुड़े रहते हैं जिन्हें हम प्रायः उनके सामूहिक हितों और अंतर्संबंधों में देखते हैं। यहां रोचक बात यह नृजातीय समूह की भी यही परिभाषा है। राष्ट्र और नृजातीय समूह को अक्सर एक दूसरे के तुल्य माना जाता है या राष्ट्र को एक प्रकार के नृजातीय समूह के रूप में देखा जाता है, जिसका अतीत में अपना एक राज्य या उसका मिथक होता है या राज्य का दर्जा पाने की जिसमें तीव्र इच्छा होती है। इस प्रकार के मिथकों, इतिहास और अपेक्षाओं से शक्ति पाकर राष्ट्रवाद लोगों को अक्सर उच्च सामाजिक स्तर, स्वतंत्रता और स्वायत्तता की चाह में नृजातीय आंदोलन छेड़ने के लिए एकता के सूत्र में बांधने का काम करता है। इस प्रकार नृजातीय संप्रदाय में जो उनके पास था उसे दुबारा हासिल करने की इच्छा स्वायत्तता और राजनीतिक संप्रभुता की मांग को जन्म देती है जिससे वह एक राष्ट्रीय समुदाय का स्वरूप धारण कर लेता है।

ऊमेन के अनुसार राष्ट्र और नृजातीय समुदाय में कई विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं पर दोनों में एक महत्वपूर्ण बिंदू पर भेद दिखाई देता है जो भू क्षेत्र या प्रदेश होता है। एक नृजातीय समूह राष्ट्र का स्वरूप तभी धारण करता है जब वह अपनी पहचान को एक क्षेत्र/प्रदेश या अंचल विशेष से जोड़ कर देखने लगता है। इसके विपरीत एक राष्ट्र नृजातीय समुदाय का स्वरूप तब धारण करता है जब उसके सदस्य अपनी मातृभूमि से अलग हो जाएं। नृजातीय समूह का कोई भी लक्षण उसके अन्य लक्षणों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता है। प्रत्येक लक्षण को भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में महत्ता मिलती है। परंतु क्षेत्र के बिना राष्ट्र को एक राष्ट्र की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसलिए ऊमेन नृजातीय समूहों को ''निष्क्रिय राष्ट्र'' की संज्ञा देते हैं जिसमें राष्ट्र का स्वरूप धारण करने की संभावना विद्यमान होती है। वहीं राष्ट्र को वह "सक्रिय नृजातीयता'' कहते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति नृजातीय घटकों से ही होती है। इसी प्रकार बैकाल जैसे विद्वान ने भी नृजातीय समूहों के लिए लघु राष्ट्र' (माइक्रो नेशन) और राष्ट्रों के लिए "वृहत्तर–जातीय'' (मैक्रो–नेशन) शब्दों का प्रयोग किया है। इस तरह वह भी ऊमेन की इस व्याख्या की पुष्टि करते दिखाई देते हैं कि दोनों में भेद करने वाला मुख्य कारक भू क्षेत्र है।

ck/k ç'u 3

1) राष्ट्र और नृजातीय समूह में क्या संबंध है? पांच पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) नृजातीय राष्ट्रवाद क्या है? पांच पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

7-6-3 jk"Vªokn vkSj u`tkrh;rk

राष्ट्रवाद लोगों की अपनी एक स्वशासी राजनीतिक इकाई को स्थापित करने और उसे चलाने की प्रकट भावना है। समकालीन विश्व में यह आधुनिक राज्यों के सृजक और विध्वं दोनों रूपों में सबसे प्रभावशाली शक्ति प्रमाणित हुई है। राष्ट्रवाद और नृजातीयता दोनों परस्पर जुड़े हैं, लेकिन दोनों भिन्न भी हैं। नृजातीयता राष्ट्रवाद का रूप धारण कर सकती है और राष्ट्रवाद का आधार हमेशा वास्तविक या कल्पित नृजातीय संबंध बनते हैं। पर राष्ट्रवाद के मूल में तीन मुख्य बातें निहित होती हैंः स्वायत्तता, एकता और पहचान। स्वायत्तता का अभिप्राय उस प्रयास से है जिसे लोग अपनी नियति को खुद तय करने और खुद को बाहरी बेड़ियों से मुक्त करने के लिए करते हैं। एकता का मतलब आंतरिक विभाजनों, मतभेदों को समाप्त कर एकजुट हो जाना है और पहचान का तात्पर्य एक समूह के प्रयास से है जो वह अपनी प्रामाणिक सांस्कृतिक विरासत और पहचान को हासिल करने और उसे अभिव्यक्त करने के लिए करता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद नृजातीयता का एक रूप है जिसमें एक खास नृजातीय पहचान एक राजनीतिक एजेंडा हासिल करके ठोस और संस्थागत रूप धारण करती है। राष्ट्रों का निर्माण तब होता है जब एक बहुजातीय राज्य में कोई नृजातीय समूह एक स्वचेतन राजनीतिक इकाई में परिवर्तित हो जाता है। इस तरह संप्रभुता और आत्मनिर्णय ही राष्ट्रवाद को नृजातीयता से अलग करते हैं।

lkp vkSj dj 3

अपने अध्ययन केन्द्र के छात्रों और अन्य जानकार व्यक्तियों के साथ राष्ट्रवाद और नृजातीयता के बीच संबंध पर चर्चा कीजिए। इससे आपको जो भी जानकारी हासिल होती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

7-6-4 jk"Vªh;rk dk fodkl

ब्रास के अनुसार राष्ट्रीयता का निर्माण दो चरणों में होता है। पहले चरण में एक नृजातीय श्रेणी का एक सुमदाय में रूपांतरण होता है। इस प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन

होते हैं, जैसे एक स्व–चेतन भाषायी एकता का सृजन, जाति संगठन का निर्माण इत्यादि। यह बहुजातीय समाज में आधुनिकीकरण के आंरभिक दौर में होता है जिसमें विभिन्न प्रकार के सामाजिक विभाजन विद्यमान रहते हैं। दूसरे चरण में समूह के सदस्यों या समूचे समूह के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की पैरवी और फिर उन्हें प्राप्त करना शामिल है। यह समूह जब अपने प्रयासों से सामूहिक अधिकारों को राजनीतिक कारवाई और गोलबंदी के जरिए हासिल करने में सफल हो जाता है तो वह नृजातीयता के दायरे से निकल जाता है और खुद को एक राष्ट्रीयता के रूप में स्थापित कर लेता है।

मगर नृजातीयता क्यों राष्ट्रीयता में बदल जाती है? इस प्रश्न का समाधान सापेक्षिक वंचना के दृष्टिकोण से मिलता है जो हमारा ध्यान कुंठा की भावना की और खींचता है। जब लोगों को लगता है कि जो उन्हें जायज रूप से मिलना चाहिए और जो उन्हें असल में मिलता है उसमें भारी अंतर है तो इसी से उनमें कुंठा की यह भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार पराधीन या दबाए हुए समूहों को जब प्रभावी समूहों द्वारा स्थापित नियमों के अनुसार उचित सफलता नहीं मिल पाती है तो उनकी प्रतिक्रिया की प्रकृति नृजातीय वैमनष्य का पुट लिए रहती है। यह नृजातीय वैमनष्य या विरोध (क) देशीय लोगों के जमीन और संस्कृति के अधिकार की लड़ाई (ख) अल्पसंख्यक समूहों द्वारा समान आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अधिकार हासिल करने के प्रयासों, (ग) दुर्लभ संसाधनों को प्राप्त करने के लिए नृजातीय समूहों में स्पर्धा और (घ) पृथक राष्ट्र के आंदोलन का स्वरूप धारण कर सकता है। .

7-6-5 u'tkrh; jk"Vokn vkj Hkkjr

शर्मा के अनुसार नृजातीय वैमनष्य ने भारतीय राज्य के लिए कई गंभीर खतरे पैदा कर दिए हैं। ये खतरे इस प्रकार हैं:

जातिवादः यह नृजातीय पहचान और आधुनिक हितों का एक विचित्र मिश्रण है जिसमें नृजातीय समूह अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों के लिए जातिगत विचारधाराओं का प्रयोग करता है। जैसे, एक राजनीतिक दल एक जाति समूह विशेष से वोट मांगता है।

सांप्रदायिकताः यह धर्म और राजनीति के बीच एक अनैतिक' गठजोड़ है जिसमें राजनीतिक या आर्थिक हितों की सिद्धि के लिए धर्म का प्रयोग किया जाता है। जैसे, अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने के लिए भारतीय जनता पार्टी हिन्दुत्व की विचारधारा को इस्तेमाल कर रही है।

स्वसंस्कृतिवादः इसे हम देशीयता भी कहते हैं। यह भूमि–पुत्र' जैसी धारणा को लेकर चलता है जिसमें आंचतिक पहचान उग्र नृजातीय संघर्ष का स्रोत बन जाती है। जैसे बंगाली मूल के विदेशियों को निकाल बाहर करने का असम आंदोलन।

नृजातीय राष्ट्रवादः यह नृजातीय समूह का राष्ट्रीयता में कायांतरण है। इसमें एक अंचल विशेष में स्वायत्त शासन की मांग या अलगाव और एक स्वयंभू राष्ट्र के रूप में मान्यता की मांग उठाई जा सकती है। जैसे, पंजाब का खालिस्तानी आंदोलन और कश्मीर में चल रहा पृथकतावादी आंदोलन।

7-7 lkjk'k

उपरोक्त चर्चा से हमने सीखा कि प्रजाति और नृजातीयता दो अलग–अलग सामाजिक निर्माण हैं। 18 वीं और 19 वीं सदी के औपनिवेशिक नृविज्ञान और विज्ञान ने शारीरिक भेदभाव जैसे त्वचा के रंग, चेहरे या शारीरिक अंतर से अलग लोगों को बनाने के लिए प्रजाति का विचार बनाया। प्रजातीय वर्गीकरण का उपयोग प्रजाति के बीच पदानुक्रम बनाने के लिए किया गया था क्योंकि यह औपनिवेशिक शक्तियों के हित में काम करता था। उन्होंने प्रजाति के आधार पर अपने शासन को वैध बनाया। प्रजातीयता का विचार उन लोगों के समूह का विचार है जो मानते हैं कि एक ही सांस्कृतिक मूल, सांस्कृतिक समानता, एक ही भाषा और धर्म, आदि हैं, हालांकि, प्रजाति और नृजातीयता स्वाभाविक लगती है, लेकिन हमने अपनी चर्चा से सीखा है कि वे दो अलग–अलग सामाजिक निर्माण हैं।

7-8 'kCnkoyh

lkL—frd u'tkrh;rk	:	यह नृजातीयता को साझे सांस्कृतिक मूल्यों और प्रथाओं के रूप में परिभाषित करने का नृवैज्ञानिक तरीका है।
lkL—frd fpUgd	:	ये वस्तुगत सांस्कृतिक विशेषताएं हैं, जैसे, भाषा, धर्म, वेशभूषा इत्यादि। इनके माध्यम से समूहों के बीच अंतर स्पष्ट होते हैं और उनमें दूरी बनी रहती है।
mnh;eku u'tkrh;rk	:	जब राजनीतिक विभेदन और लाभ के लिए सांस्कृतिक नृजातीय पहचान का इस्तेमाल किया जाता है।
u'tkrh; p;ruk	:	किसी एक समूह के सदस्यों का यह व्यक्तिनिष्ठ नजरिया कि वे ऐसा समूह हैं जो दूसरों से भिन्न, एकदम अलग हैं।
u'tkrh; leg	:	एक ऐसा समूह जिसे समाज में अन्य लोग भाषा, धर्म, नस्ल, पैतृक गृह, संस्कृति इत्यादि की दृष्टि से भिन्न मानते हैं और जिसके सदस्य खुद को दूसरे लोगों से भिन्न मानते हैं और जो एक वास्तविक या कल्पनिक साझे वंशमूल और संस्कृति के इर्दगिर्द रची गई साझी गतिविधियों में भाग लेते हैं।
u'tkrh; jk"V'okn	:	यह नृजातीय समूहों द्वारा अपने लिए राजनीतिक और प्रशासनिक स्वायत्तता, राष्ट्रीय दर्जा या स्वतंत्र देश की मांग है।
u'tkrh; Lrjhdj.k	:	समाज में जातीयता के आधार पर वित्तीय, सत्ताधिकार औ संसाधनों का असमान वितरण।
tkrh;rk	:	किसी सामाजिक समूह की एक साझी (वास्तविक या कल्पनिक) नयी, भाषायी या सांस्कृतिक विशेषताओं पर आधारित पहचान।
v;rjjk"Vh; mifuo'kokn	:	इस अवधारणा का प्रयोग एक ही समाज में आंचलिक राजनीतिक और आर्थिक विषमताओं और किसी समाज में अल्पसंख्यक समूहों की पददलित स्थिति और शोषण को बताने के लिए किया जाता है।
jk"V	:	एक देश या देश की जनसंख्या जो समान रक्त संबंधों से जुड़ा हो और जिसका संचालन सिर्फ एक सरकार करती है।

jk"Vokn : किसी राष्ट्र या उसके लोगों की स्वशासन राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने की इच्छा की अभिव्यक्ति है।

7-9 d[N mi;kxh iLrd

बैकाल एजिल (1997) "सिटिजनशिप एंड नेशनल आइडेंटिटी इन लैटिन अमेरिकाः द परसिस्टिंग सैलिएंस ऑफ रेस ऐंड एथनसिटी'' टी. के. उमेन (संपा०) सिटिजनशिप ऐंड नेशनल आइडेंटिटीः फ्रॉम कॉलोनियलिज्म टू ग्लोबलिज्म में नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

ब्रास, पॉल आर., (1991) "एथनिसिटी ऐंड नेशनलिज्मः थ्योरी ऐंड कॉम्प्रिजन," सेज पब्लिकेशंस

बर्गस, एम.ई. (1978) "द रिसर्जेस ऑफ एथनिसिटीः मिथ और रिएलिटी'', एथनिक ऐंड रेशिसल स्टडीज

7-10 ck/k ç'uk dk mÙkj

ck/k ç'u 1

1) प्रजाति को आमतौर पर दुनिया के विभिन्न हिस्सों से विभिन्न लोगों की बाहरी शारीरिक विशेषताओं के रूप में समझा जाता है; जैसे, गोरे रंग के यूरोपियन, काले, अफ्रीका के नीग्रो, मैंगोलॉर्ड, जो पीले रंग के एशिया के लोगों की शिकायत करते हैं, इत्यादि। यह 18 वीं शताब्दी के दौरान भौतिक मानवविदों द्वारा परिभाषित किया गया था शारीरिक विशेषताओं के आधार पर यह उनके साथ कुछ मानसिक विशेषताओं को संबद्ध करने के लिए भी था। इस प्रकार 1866 में फर्रार ने मानव जातियों को तीन समूहों में विभाजित किया – सावेज, अर्ध–सैवेज और नस्लों की सभ्यता।

2) प्रजातिवाद वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम 18वीं और 19वीं शताब्दी के दौरान औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए इसका इस्तेमाल किया। उन्होंने अपने वर्चस्व को वैध बनाने के लिए कभी–कभी धर्म और विज्ञान का भी इस्तेमाल कियाय जैसे डार्विन का सिद्धांत 'प्राकृतिक चयन' और 'योग्यतम की उत्तरजीविता' औपनिवेशिक नियमों द्वारा कुछ व्याख्याएँ उपयोग किए गए थे। इस प्रकार, प्रजातिवाद समाज मे सामाजिक स्तरीकरण का हिस्सा है।

ck/k ç'u 2

1) एक नृजातीय समूह की कुछ वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं जो उन्हें अन्य समूहों से अलग करते हैं। दूसरा, इसमें नृजातीय स्वचेतना होती है। इस प्रकार नृजातीय समूह की सामूहिकता है जो अपने आपको औरों से भिन्न मानता है और भाषा, धर्म, पैतृक गृह, इत्यादि की दृष्टि से भी अपने को विशिष्ट और भिन्न मानते हैं।

2) नृजातीयता के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य का अभिप्राय नृजातीयता के आधार पर किसी समूह में राजनीतिक चेतना और उसका गोलबंद होना है। इस आधार पर

ये समूह सचेतन रूप से अपनी नृजातीयता का दावा पेश करते हैं, यहां तक कि वे अपनी नृजातीयता को बढ़ा–चढ़ाकर भी पेश करते हैं ताकि वे राजनीतिक स्वायत्तता या संप्रभुता का लक्ष्य हासिल कर सकें।

cks/k iz'u 3

1) राष्ट्र भाषाओं की स्थायी एकरूपता, अस्थायी आर्थिक जीवन और संस्कृति के रूप में मनोवैज्ञानिक ढांचा है जिसके विकास के सूत्र इतिहास से जुड़े होते हैं। राष्ट्र एक तरह का नृजातीय समुदाय है जिसका राजनीतिकरण होता है और राजनीतिक व्यवस्था में जिसके अधिकार होते हैं। राष्ट्र और नृजातीय समूहों में अनेक विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं मगर अस्थायी तोर पर इनमें भिन्नता होती है। एक नृजातीय समूह तभी राष्ट्र का स्वरूप ले लेता है. जब वह अस्थायी रूप से अपनी पहचान बना लेता है।

2) नृजातीय वैमनष्य राज्य के लिए अनेक प्रकार के खतरे पैदा करता है जिसमें मुख्यतः जातिवाद, साम्प्रदायिकता और देशीयता शामिल हैं। सबसे बड़ा खतरा जातीय–राष्ट्रवाद से उत्पन्न होता है जो एक नृजातीय समूह का राष्ट्रीयता में रूपांतरण है। भारत में पहले भी और आज भी इसके प्रयास हुए और चल रहे हैं।

bdkbZ 8 tkfr vkj oxZ

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 जाति–मॉडल की मूल विशेषताएं

8.3 ढांचागत परिवर्तन

8.3.1 आर्थिक संबंध

8.3.2 सत्ताधिकार और प्रभावी जाति

8.4 जाति और वर्ग में गठजोड़

8.4.1 एककालिक विश्लेषण

8.4.2 नियामक व्यवस्था के रूप में जाति

8.4.3 अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में जाति

8.5 जाति चुनाव

8.5.1 जाति और गतिशीलता

8.6 वर्ग की व्याख्या

8.7 जाति–क्रम परंपरा और वर्ग–संघर्ष

8.7.1 हिंसा और शोषण की घटनाएं

8.8 सारांश

8.9 शब्दावली

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

8-0 mís';

सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को पूरी तरह से समझने के लिए जाति और वर्ग दोनों बेहद जरूरी हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जाति मॉडल की बुनियादी विशेषताओं को समझ जाएंगे और फिर यह समझा सकेंगे कि सामाजिक स्तरीकरण में वर्ग किस तरह भूमिका अदा करता है;
- यह जान जाएंगे कि जाति और वर्ग किस तरह गठजोड़ बनाकर असमानताओं को प्रबलता प्रदान करते हैं,
- यह बता पाएंगे कि समाज में जाति कुछ निश्चित कार्यों के निर्वाह में एक बुनियादी इकाई के रूप में किस तरह काम करती है;
- भारतीय समाज जाति स्तरीकरण किस तरह से वर्ग संघर्ष' या 'सर्वहारा चेतना' को कुंद करती है; और

- जाति सामाजिक गतिशीलता और वर्ग संबंधों को किस तरह प्रभावित करती है, यह समझ सकेंगे।

8-1 çLrkouk

इस इकाई में जाति के विश्लेषण में उठने वाले कई कठिनाइयों को समझने का प्रयास किया गया है। असल में इस विषय पर जो भी साहित्य उपलब्ध है वह इन कठिनाइयों को सुलझाने के बजाए और संदेह, शंकाएं उत्पन्न करता है। जहां इसमें वर्ण और जाति में स्पष्ट भेद नहीं मिलता, वहीं विश्लेषण के एक पहलू पर दूसरे पहलू की एवज में अलग–अलग किस्म के परिप्रेक्ष्य उभरते हैं। आनुमानिक सिद्धांतों की औपनिवेशिक नृजातिकारों (जातीयताओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों) के लेखन में कमी नहीं है जिन्हें प्रमाणों की पुष्टि के लिए आज भी प्रयोग किया जाता है। अनेक अध्ययनकर्ताओं ने भारतीय समाज में मौजूदा स्थितियों की गति को अनदेखी करके उसे एक जाति समाज' के रूप में प्रचारित किया है। इस जाति को वर्ग व्यवस्था का तार्किक विलोम माना गया, जो व्यक्तिवाद और विशेषकर पश्चिम से जुड़ा है।

8-2 tkfr&e,My dh eyHkwr fo'k"krk,a

आंद्रे बेटीली ने भारतीय समाज के जाति–मॉडल के इस परिप्रेक्ष्य की बुनियादी विशेषताओं की रूपरेखा एक विश्लेषण योजना के रूप में इसकी उपयोगिता की परख करते हुए तैयार की है। इस जाति–मॉडल' की विशेषताएं इस प्रकार हैं:

i) यह मॉडल लोगों के कुछ विशेष वर्गों द्वारा माने और व्यक्त किए जाने वाले विचारों पर आधारित है। यह उनके आचरण पर आधारित नहीं है, हालांकि इसके अध्ययन के लिए द्वितीयक अनुभवजन्य सामग्री भी प्रयोग की गई है।

ii) यह भारत में जाति को एक तरह से पहला और सार्वभौमिक महत्व देता है जैसा कि शास्त्रों में इसकी धारणा दी गई है।

iii) इस पूरी व्यवस्था को इस रूप में देखा जाता है कि यह कमोबेश स्पष्टतः रचित निश्चित सिद्धांत या ''खेल के नियमों'' से संचालित है।

iv) आंद्रे बेटीली इस मॉडल से उत्पन्न होने वाले दो जोखिमों की ओर भी इशारा करते हैं। इसमें सबसे पहला खतरा तो यह है कि यह सिद्धांत इतना सामान्य है कि यह किसी भी समाज के लिए प्रयुक्त हो सकता है। दूसरा खतरा यह है कि यह आर्थिक और राजनीतिक जीवन की बारीकियों को लेकर नहीं चलता।

c,Dl 8-01

बेटीली कहते हैं कि यह मॉडल, जो कि मुख्यतः लुई ड्यूमोंट के अध्ययन से जुड़ा है, हिंदुत्व से। संबंधित विश्वासों की व्याख्या में बड़ा उपयोगी रहा है। वह राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को समझने के लिए हितों' के अध्ययन को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने तंजोर गांव में जाति का जो विश्लेषण किया है वह इस तरह के सरोकार का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। योगेन्द्र सिंह ने अपने अध्ययन में परिवर्तन को समझने का प्रयत्न किया है जिसमें वर्गीय कारक जाति श्रेणियों के ढांचे के भीतर अपनी पहचान के नए बोध के साथ कार्य करते हैं। इस तरह की घटनाओं में जाति उल्लंघन

भी होते हैं जो उन अंतर्विरोधों की तरफ हमारा ध्यान खींचते हैं जो पहले इतने स्पष्ट दिखाई नहीं देते थे।

संस्कृतिकरण का एम.एन. श्रीनिवासन का सिद्धांत जाति या वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन एक इसी तरह का प्रभावी प्रक्रिया है। संस्कृतिकरण को हम उन विशेष संदर्भो में देख सकते हैं जिनमें यह होता है। दूसरा, हम इसे समग्र रूप में वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में भी देख सकते हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन की एक अन्य प्रक्रिया को श्रीनिवास 'पाश्चात्यकरण' कहते हैं। यह लोगों के मूल्यों, आदर्शों और सांस्कृतिक जड़ों में बदलाव लाता है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार इन परिवर्तनों में ढांचागत परिवर्तनों' का अर्थ निहित है जो विशेषकर वर्ण व्यवस्था में और सामान्यतया भारतीय समाज में आ रहे. हैं, जिन्हें क्रम परंपरा के विरुद्ध विद्रोह' कहा जा रहा है या फिर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में फंसा बताया जा रहा है।

8-3 <kpkxr ifjorZu

भूमि सुधारों, शिक्षा के प्रसार, सामाजिक विधान, लोकतांत्रीकरण और नगरीकरण के रूप में ढांचागत परिवर्तन नज़र आते हैं। इन परिवर्तनों का वर्ण व्यवस्था पर यह असर पड़ता है कि जातिगत संगठन जैसे अनुकूलन युक्तियां अक्सर सामाजिक लामबंदी की युक्ति बन जाती हैं। ये संगठन मुख्य रूप से अपने सदस्यों की भौतिक और सांसारिक जरूरतों और लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रत्यनशील रहते हैं। इस प्रक्रिया में ये संगठन अपने सदस्यों को अपनी वंचना और ढांचागत अवरोधों के बारे में और अधिक सजग बनाते हैं। ये संगठन अक्सर गैर–जातिगत कार्यों से ही सरोकार रखते हैं। मगर ये वर्ग नहीं हैं, क्योंकि इन संगठनों के सदस्य अनेक वर्ग स्थितियों से जुड़े लोग होते हैं। इनमें अंतर जातिगत अंतर्विरोधों को उठने नहीं दिया जाता है। इससे इनमें साझी वंचनाओं और वर्गीय चेतना की धारणा भी उत्पन्न हो सकती है।

8-3-1 vkfFkZd lEcU/k

वर्ण व्यवस्था को आर्थिक संबंधों की व्यवस्था के रूप में भी देखा गया है। जोआंमेंचर के अनुसार जो लोग या जातियां इस वर्ण व्यवस्था में सबसे नीचे हैं उनके लिए वर्ण व्यवस्था ने शोषण और दमन के एक बड़े ही व्यवस्थित और प्रभावशाली अस्त्र के रूप में काम किया है। इस व्यवस्था का कार्य ऐसे वर्गों का निर्माण रोकना है जिनके हित साझे हों या लक्ष्य एक हो। मेंचर ने वर्ग को मार्क्सवादी अर्थ में लिया है और जाति संबंधों के विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी मॉडल अपनाया है। इस तरह जाति परस्पर निर्भरता और लेन–देन की व्यवस्था के बजाए शोषण की व्यवस्था है। जाति स्तरीकरण ने "वर्ग द्वंद्व" या "सर्वहारा चेतना" को विकसित होने से रोकने का काम किया है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ''जाति को चरम सामाजिक–आर्थिक भेदों को आंशिक रूप से ढक देने से ही मान्यता मिलती है।''

यहां पर गौर तलब बात यह है कि भारतीय समाज में स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में 'वर्ग' उस तरह से घिरे हुए नहीं मिलते जिस तरह से जातियां घिरी हैं। तिस पर वर्ण व्यवस्था ने जो भी ''समस्याएं'' खड़ी की हैं उनमें से अधिकांश की प्रकृति वर्गीय है जिनका संबंध आर्थिक वर्चस्व और पराधीनता, विशेषाधिकारों और वंचनाओं, स्पष्ट क्षति और महज जीवित बने रहने से है। ये समस्याएं अनिवार्यतः संपन्न और

वंचितों की है। इन्हें हम ठेठ मार्क्सवादी अंदाज में मर्त या ठोस समहों में नहीं रख सकते क्योंकि यहां वर्गीय वैमनष्य, वर्गीय चेतना और वर्गीय एकता विद्यमान नहीं है। इसलिए भारत की स्थिति अन्य समाजों से इस मामले में भिन्न है कि इसकी समस्याएं 'वर्गीय' चरित्र की तो हैं मगर समाज के टुकड़ों के रूप में वर्ग' ठोस–सामाजिक–आर्थिक इकाइयों के रूप में मौजूद नहीं हैं।

8-3-2 lÙkkf/kdkj vkj çHkkoh tkfr

आंद्रे बेटीली के अनुसार सत्ताधिकार एक प्रभावी जाति से दूसरी प्रभावी जाति के पास चला गया है। यही नहीं यह जाति के ढांचे से निकल कर अपेक्षाकृत अधिक विभेदित ढांचों जैसे पंचायतों और राजनीतिक दलों के पास चला गया है। मगर अपनी इस विवेचना में बेटीली इस अंतरण के परिणामों पर गौर नहीं कर पाए हैं। अब सवाल यह उठता है कि क्या हम जाति ढांचे में हो रहे बदलावों का अध्ययन इनके फलस्वरूप उभरे "अनुपाती न्याय" "समानता/असमानता'' के नमूनों का विश्लेषण किए बिना कर सकते हैं? अगर हम एक समतावादी व्यवस्था के नियमों में नैसर्गिक रूप से विद्यमान लचीलेपन का विश्लेषण नहीं कर सकते तो हमारे लिए औपचारिक संस्थाओं और ढांचों के उदय को जाति क्षेत्रों से 'जाति–मुक्त' संरचनाओं के ''अंतरण'' के संकेतक के रूप में व्याख्या कर पाना मुश्किल होगा। यदि कोई जाति समग्र रूप से 'प्रभावी' नहीं है और ''प्रभावी समूह'' कई जातियों के परिवारों से मिलकर बना हो तो इसका यह मतलब नहीं कि असमानता की विकरालता में भारी कमी आ गई है।

8-4 tkfr vkj oxZ e xBtkM

हम कह सकते हैं कि बदलाव असमानता के एक ढांचे से दूसरे ढांचे में होता है। पहले भी जाति की विशेषता भूमिकाओं के अंतर–जाति विभेदन के साथ–साथ जातियों के अंदर विभेदन रहा है। इसलिए विभेदन अनिवार्यतः जातिगत असमानताओं में कमी से नहीं जुड़ा रहता। भूमिकाओं का विभेदन नई असमानताओं को जन्म दे सकता है जो मौजूदा असमानताओं को और प्रबल बना सकता है। ऐसी स्थिति में वर्ण व्यवस्था या किसी भी व्यवस्था में सबसे नीचे के समूहों के लिए यह विभेदन दो–धारी तलवार बन जाता है। ग्रामीण समुदायों में नये ढांचे के उदय के फलस्वरूप अब एक ओर "सर्वहारा जमींदार'' या भूस्वामी हैं तो दूसरी ओर नव–धनाढ्य, नव प्रभावशाली नव–जमींदारों का वर्ग नज़र आता है।

8-4-1 ,ddkfyd fo'ys"k.k

जाति पर हुए अध्ययनों का एक लाभ यह रहा है कि इनसे 'फील्डवर्क' की एक परंपरा का सूत्रपात हुआ है। इनमें जाति को एक साम्यावस्थाकारी, समरस और सहमति–जन्य व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने पर अधिक बल दिया गया है। परिवर्तन को अक्सर संबंधों में जैविक से खंडीय, संवृत से विवृत, समरस से असयरस में अंतरण के रूप में दर्शाया गया। लेकिन अनुभवजन्य प्रमाण हमें बताता है कि वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन अनुकूलनधर्मी और विकासक्रमिक रहा है।

vH;kl 1

एककालिक विश्लेषण की चर्चा अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से कीजिए। इस चर्चा से आपको जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लें।

वर्ण व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण हम असमानता और क्रम परंपरा के एक ढांचे से असमानता के दूसरे ढांचे में परिवर्तन से कर सकते हैं। वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की इस गुत्थी को समझने के लिए हमें किसी एक समाज के लोगों की "संयुक्त स्थिति'' का विश्लेषण परिवार' या 'व्यक्ति' या दोनों को विश्लेषण की इकाई मानकर करना होगा। इस तरह का मार्ग अपनाने के लिए जरूरी है कि हम जाति को एक गतिशील या प्रक्रिया मानें। इसके बाद हमें परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए एक कार्यपद्धति की जरूरत पड़ती है। इसी संदर्भ में हम अब जाति–वर्ग गठजोड़ के बारे में चर्चा करेंगे।

जाति और वर्ग पर बहस संकीर्ण वैचारिक दृष्टिकोणों के दायरे में सिमटी रही है। जाति–मॉडल' के परिप्रेक्ष्य के अनुसार जाति एक अतिव्यापी वैचारिक व्यवस्था है जो सामाजिक जीवन, विशेष रूप से हिन्दुओं और साधारणतया अन्य सम्प्रदायों के जीवन के सभी पहलुओं को अपने में समेटे रहती है। इस तरह के दृष्टिकोण का एक निहितार्थ यह है कि जाति मूल रूप से भारतीय समाज के आंतरिक ढांचे का ही एक अंग है। इसलिए व्यवसाय, श्रम का विभाजन, विवाह के नियम, अंतर्वैयक्तिक (व्यक्तियों में परस्पर) संबंध बाहरी ढांचे के घटक हैं जो जाति की विचारधारा के पुनर्सजन को अभिव्यक्त करते हैं।

8-4-2 fu;ked 0;oLFkk d: i e tkfr

इसके बाद हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि जाति किस प्रकार एक नियामक व्यवस्था है? जाति कुछ निश्चित कार्यक्षेत्रों में अपने नियामक वर्जनाओं से क्यों चिपकी रहती है जबकि अन्य कार्य क्षेत्रों में जाति समूह और उनके सदस्य ऐसे क्रिया–कलाप अपना लेते हैं जो वर्ण व्यवस्था की पारंपरिक वर्जनाओं से बिल्कुल हटकर हैं? यह गौरतलब है कि एक जाति के सदस्य एक–दूसरे से स्पर्धा तो करते हैं मगर साथ ही वे परस्पर सहयोग भी करते हैं। जाति के भीतर वर्ग आधारित विभेद हमेशा प्रमुखता से मौजूद रहे हैं। उदाहरण के लिए किसी गांव में एक जाति के सदस्य कभी–कभी भारतीय वर्ग विभाजन का प्रतिनिधित्व करते पाए जाते हैं क्योंकि विवाह के संगत नियमों का पालन करते हुए वे असल में संगत सौदेबाजी को वर्गीय–स्थिति की धुरी के अनुरूप परिभाषित करते हैं। जाति सिद्धांत और व्यवहार दोनों में असमानता की ओर संकेत करता है। अपनी कालजयी कृति होमो हायरार्किकस में ड्यूमोंट वर्ण व्यवस्था पर आधारित असमानता को एक विशेष प्रकार की असमानता का दर्जा देते हैं। उनके अनुसार शुद्धि और अशुद्धि की विचारधारा जाति को समझने की कुंजी है। यह भारत में क्रम–परंपरा का सबसे बुनियादी आधार है। उन्होंने नृजातिवृत्त और वैचारिक वर्णनों के आधार पर वर्ण–व्यवस्था के "आदर्श प्रारूप" का विश्लेषण किया।

टी.एन. मदान क्रम परंपरा के बारे में ड्यूमोंट के इस दृष्टिकोण को उचित ठहराते हैं कि वह एक भौमिक आवश्यकता है। उनका मत है कि भारतीय समाज काफी हद तक गतिहीन और स्थिर रहा है। समाज में परिवर्तन अवश्य हुए हैं मगर आमूल परिवर्तन कभी नहीं आ पाया है।

8-4-3 vuHkotU; okLrfodrk d: i e tkfr

एक अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में वर्ण व्यवस्था को समझने का आधार जाति–समूहों, जैसे जाति को विशेष ग्रामीण/शहरी संदर्भ में देखना है। यह समाज में

स्थान और पहचान का एक स्रोत है। मगर पहचान रोजाना के अनौपचारिक संबंधों का प्रकार्य नहीं है। उदाहरण के लिए अमूमन जाति एक तमिल ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के कान्य–कुब्ज ब्राह्मण के बीच विवाह का आधार नहीं बनती। मगर उनमें यह एहसास हो सकता है कि वे एक ही वंश से जुड़े हैं और संकट और चुनौती की घड़ियों में एक–दूसरे से सहयोग भी कर सकते हैं। इसलिए, कोई यह पूछ सकता है कि क्या जाति एक हित समूह है? क्या साझे हित विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न जातियों के लोगों को एक जाति के लोगों के बनिस्वत अधिक सहजता से एक दूसरे के समीप ला सकते हैं? इसमें कोई संदेह नहीं कि जाति एक संसाधन है, मगर इस संसाधन की प्रकृति जाति के अनुसार बदल जाती है। एक जाति विशेष की हैसियत उसकी स्थिति पर निर्भर करती है जो उसे एक क्षेत्र विशेष में प्राप्त है। आज सवर्ण और मझोली जातियों के लिए जाति पहचान/सदस्यता बोझ बन गई है क्योंकि सरकारी नौकरियों, संसद और विधानसभाओं के साथ–साथ उच्च–शिक्षण संस्थानों में प्रवेश का एक खास प्रतिशत अनुसूचित जातियों/जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षित कर दिया गया है।

यह दृष्टिकोण कि जाति और वर्ग विचारधारा से एक–दूसरे के विलोम हैं, सही नहीं है। यह मान लेना कि जाति के नष्ट हो जाने पर वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में उभर सकता है, दोनों के बीच में जो संबंध है उसे गलत समझना होगा। दोनों ही भारत की सामाजिक संरचना के अविभाज्य अंग रहे हैं। इसलिए दोनों के गठजोड़, उसकी निरंतरता और उसमें आने वाले परिवर्तन का अध्ययन जरूरी है।

जाति एक अति जटिल व्यवस्था है क्योंकि यह सत्ताधिकार या शक्ति संबंधों और आर्थिक क्रिया–कलापों की एक पद्धति भर नहीं है। अगर यह एक पहलू से कमजोर पड़ती है तो वहीं यह दूसरे पक्ष से शक्तिशाली बन जाती है। निस्संदेह इस प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन, परिवर्धन और सहवर्धन अवश्य होते हैं। हमें इस व्यवस्था की गतिशीलता को गंभीरता से विश्लेषण करने की आवश्यकता है। आखिरकार अनुष्ठानों, शुद्धि–अशुद्धि और सामाजिक–जीवन के अन्य अभौतिक पहलुओं का आधार वर्ग ही है। उदाहरण के लिए, जाट सभा जैसा संगठन सिर्फ एक जातिगत संगठन नहीं है बल्कि असल में यह ग्रामीण किसानों का एक संगठन है। इसी तरह किसान सभा भी ग्रामीण किसानों का संगठन भर नहीं है बल्कि यह खेती–बाड़ी के पेशे में लगी कृषक जातियों विशेषकर उत्तरी भारत में जाटों और अन्य राज्यों की ऐसी ही जातियों का संघ है।

cks/k iz'u 1

1) सत्ताधिकार और प्रभावी जाति पर पांच पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में जाति के बारे में चर्चा कीजिए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

जाति को मुख्यतः एक ग्रामीण परिघटना और वर्ग को नगरों और कस्बों की वास्तविकता मानना कोरा मिथक है। आइए अपनी इस बात की पुष्टि के लिए हम जयपुर शहर में होने वाले जाति चुनावों पर दृष्टि डालते हैं।

8-5 tkfr puko

कोई पंद्रह वर्ष पहले जयपुर के बीच में स्थित स्टेशन रोड़ पर खंडेलवाल वैश्य महासभा के वार्षिक चुनाव हुए। इस चुनाव में सैकड़ों कारें, जीपें, ऑटोरिक्शा और स्कूटर–मोटरसाइकिल लगे हुए थे। सड़क के दोनों तरफ चुनाव के लिए लगभग 60 स्टॉल लगे थे। इस सड़क पर आने–जाने वाले यातायात को दूसरे मार्ग पर मोड़ दिया गया और स्थिति को नियंत्रण में रखने के लिए पुलिस बंदोबस्त भी किया गया था। यह सिर्फ जातिवाद का प्रदर्शन ही नहीं था, बल्कि इसमें जाति की अंदर की गुटबाजी भी खूब देखने में आई। लेकिन इस चुनाव में हजारों रुपये खर्च करके चुने जाने वाले लोगों को आखिर क्या हासिल होना था? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए हमें गंभीर विश्लेषण करना होगा कि जाति और वर्ग किस प्रकार परस्पर काम करते हैं।

c,Dl 8-02

सही अर्थों में जाति ढांचे का कोई समरूप पैटर्न पूरे भारत में नहीं मिलता। भारत में हजारों जातियां हैं जिनके नाम–उपनाम अलग–अलग हैं। लेकिन पूरे देश में सिर्फ पांच या छह वर्ग हैं। यहां यह याद रखना जरूरी है कि भारतीय समाज में सामाजिक विभाजन के स्पष्ट रूप से ये भिन्न आधार वास्तव में एक दूसरे से ज्यादा भिन्न नहीं हैं। भारत में अनेक मध्यम वर्ग हैं जिनका उत्पादन प्रक्रियाओं से कोई संबंध नहीं है, बल्कि ये आधुनिक भारतीय राज्य उपकरण की उपज हैं।

भारत में वर्ग संघर्ष असल में जाति संघर्ष और जाति संघर्ष वर्ग संघर्ष है। इन दोनों को अलग करना व्यर्थ और यांत्रिक होगा। इस विधि–वैज्ञानिक तर्क, कि दोनों विशिष्ट और भिन्न हैं क्योंकि दोनों का संबंध क्रमशः "सामाजिक" और "आर्थिक वास्तविकताओं'' से है, इसको भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण मौजूद नहीं हैं कि ये दोनों एकदम अलग हैं।

यह दृष्टिकोण भारत के सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए जाति–वर्ग गठजोड़ पर केन्द्रित है। इसमें सामाजिक ढांचे, संस्कृति, इतिहास और द्वंद्वात्मकता को

सामाजिक स्तर के ऊपरी हिस्सों और हाशिये पर रहने वाले समुदायों दोनों तरफ से समझने और उनका विश्लेषण करने पर बल दिया गया है।

गठजोड़ से यह मतलब नहीं कि जाति और वर्ग में तदनुरूपता या सममिति विद्यमान रहती है। परस्पर निर्भरता, अंतर्विरोध, सममिति और वर्चस्व इस गठजोड़ की अभिन्न विशेषताएं हैं। आंद्रे बेटीली बताते हैं कि गांव में जाति और सत्ताधिकार की क्रम–परंपराएं कुछ हद तक अतिव्यापन करती हैं मगर साथ में वे एक दूसरे की काट भी करती हैं।

बेटीली कहते हैं कि सामाजिक जीवन में कई क्षेत्र अब कुछ हद तक "जाति–मुक्त'' हो रहे हैं। ब्राह्मणवादी परंपरा के अलावा भारतीय समाज में योद्धा राजपूतों की परंपरा, भारतीय दस्तकारों, व्यापारियों की परंपराएं, वर्गीय और सांस्कृतिक परंपराएं साथ–साथ विद्यमान थीं।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि भारतीय समाज के बहु–आयामी होने और जाति व्यवस्था के कारण जाति की सटीक परिभाषा बेहद जटिल है। जाति के ढांचागत पहलू की यह कहकर व्याख्या की जाती है कि यह स्तरीकरण का एक सामान्य सिद्धांत है। एक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में जाति को शुद्धि और अशुद्धि की विचारधारा की प्रधानता और क्रम परंपरा, पृथककरण और सम्मिलनशीलता की धारणाओं के संदर्भ में समझा जाता है।

एफ. जी. बेली जाति को स्तरीकरण की एक संवश्त (बंद) प्रणाली कहते हैं जबकि बेटीली वर्ण–व्यवस्थी के पहलुओं को 'संवश्त' और 'विवश्त' दोनों रूपों में देखते हैं। बेली के अनुसार जाति ज्यादा खंडीय होती जा रही है जिसका कारण भारत में विभेदित ढांचों का उदय है। विश्लेषण में इन भिन्नताओं के चलते जाति की एक साझी परिभाषा विकसित नहीं हो पाई है।

8-5-1 tkfr vkj xfr'khyrk

जाति हालांकि वास्तव में ज्यादा लचीली व्यवस्था नहीं है, मगर यह अपने सदस्यों को कुछ निश्चित क्षेत्रों में गतिशीलता की अनुमति देती है। कोई जाति अंतरजातीय निर्भरता के मामले में वर्ण–व्यवस्था के नियमों से संचालित होती है। मगर वहीं दूसरी जाति को अपनी प्रथाओं, अनुष्ठानों और अधिकारों का पालन करने में अन्य जातियों के सापेक्ष स्वतंत्रता भी प्राप्त होती है। .

श्रीनिवास के अनुसार कृषि उत्पादन के लिए आज भी कई जातियों के परस्पर सहयोग की उतनी ही आवश्यकता पड़ती है। जाति मुहावरे का चलन बड़ा व्यापक है। मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई विधि को भारत में वर्ण–व्यवस्था की स्थिरता से जोड़ कर देखा था। उधर, बेटीली भारतीय समाज के ''जाति–दर्शन'' को प्रचारित करने के लिए ड्यूमोंट को विशेष रूप से दोषी ठहराते हैं। उनके अनुसार, इस तरह का 'जाति मॉडल' विचारों और मूल्यों के अध्ययन में भौतिक हितों का कोई विश्लेषण नहीं देता। दोनों के बीच एक द्वंद्वात्मक संबंध है। मगर ड्यूमोंट और पोकॉक की दोहरस विरोध' की धारणा 'द्वंद्वात्मकता' की उस धारणा से कोई मेल नहीं खाती जो मार्क्स ने दी थी। बेटीली यह भी कहते हैं कि आर्थिक और राजनीतिक द्वंद्व तो होते हैं मगर वे निश्चित सीमा तक अपनी स्वतंत्रता लिए रहते हैं। इसलिए इनका अध्ययन जाति और धार्मिक

विश्वासों और विचारों से स्वतंत्र रहकर किया जा सकता है। जाति मॉडल में इस तरह के वैकल्पिक समझ का कोई मार्ग नहीं है।

एडमंड लीच का सहयोग को जाति और स्पर्धा को वर्ग कहना भी बचकाना और अविश्वसनीय है। प्रभावी जातियों के परिवारों में अपने आधिपत्य को बनाए रखने के लिए निम्न जातियों के संरक्षण देने की आपस में न सिर्फ होड़ रहती है बल्कि निम्न जातियां भी इन परिवारों का कृपापात्र बनने की होड़ में लगी. रहती हैं। इस तरह की स्पर्धा कोई नई बात नहीं है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में क्षत्रियों और ब्राह्मणों में अपने–अपने क्षेत्राधिकार के विरोधी दावों के कारण युद्ध भी होते थे। लीच का यह मत, कि जाति सिर्फ एक 'जाति' थी और 'वर्ग' जैसी स्थिति तभी उभरी जब संरक्षक लोग परस्पर होड़ करने लगे, इस ऐतिहासिक वास्तविकता को नज़रअंदाज कर देता है कि समाज में अंतरजातीय संघर्ष और ऊंची जातियों के विरुद्ध निम्न जातियों के विद्रोह होते रहे हैं।

8-6 oxZ dh 0;k[;k

वर्ग और वर्ग द्वंद्व की मार्क्सवादी धारणाओं की छाप हमें भारतीय कृषि और शहरी औद्योगिक ढांचों के अध्ययनों में मिलती है। मार्क्स (1951) ने भारत पर लिखे दो लेखों में जाति और ग्रामीण समुदाय के पारंपरिक लोकाचार का विवेचन किया था। शुरू में मार्क्स (1947) का मानना था कि एशियाई उत्पादन विधि में भूमि के रूप में निजी संपत्ति नहीं है और जाति, कृषि और ग्रामीण हस्तशिल्पों में एक खास गठबंधन के कारण अर्थव्यवस्था जड़ है मगर सी.टी. कूरियन का मानना है कि एशियाई विधि का विश्लेषण वर्गीय अंतर्विरोधों और वर्गीय ढांचों की भूमिका को नकारता नहीं है। भारत की पूर्व–पूंजीवादी आर्थिक संरचना जाति और वर्ग पर आधारित थी जो पास–पास थे।

वर्ग पर चर्चा करने के लिए दो प्रश्न यहां प्रासंगिक हैंः (1) भारतीय समाज में वर्गीय संरचना के विश्लेषण के लिए हम कौन सी विधि प्रयोग कर सकते हैं? और (2) वर्ग–जाति गठजोड़ क्या है, प्रत्येक क्षेत्र में इसके फलितार्थ और अंतर्संबंध क्या हैं? इन प्रश्नों पर चर्चा करने के पीछे हमारा आशय मार्क्सवादी नज़रिए को स्वीकारना या नकारना नहीं है, बल्कि यह देखना है कि यह हमें क्या उपयोगी अंतदृष्टि प्रदान कर सकता है।

भारत में कृषि पर निर्भर जनसंख्या की वर्गीय संरचना का विश्लेषण करते हुए अशोक रुद्र कहते हैं कि भारती कृषि में सिर्फ दो वर्ग हैं–बड़े जमींदार और खेतीहर मजदूर। इन दोनों वर्गों में वैमनष्यपूर्ण संबंध हैं और भारतीय ग्रामीण समाज का यही सबसे प्रमुख अंतर्विरोध है। ए.आर. देसाई की भी यही धारणा है।

c,Dl 8-03

रुद्र जोरदार ढंग से तर्क देते हैं कि भारतीय कृषि में पूंजीवादी संबंध और पूंजीवादी विकास है। इसलिए इसमें दो वर्ग हैं– संपन्न और निर्धन। भारत में राज्य ने अपने विकास की रणनीति के रूप में पूंजीवादी समाज के नियम अपना लिए हैं। इस सिद्धांत का एक निहितार्थ यह है कि जो संदर्भ आधार अभी तक पूरे विश्व के लिए लागू होता था वह अब भारतीय समाज के लिए भी लागू होगा। इसका दूसरा निष्कर्ष

यह है कि भारतीय समाज के विश्लेषण के लिए सबसे प्रभावी कारक सभी स्थितियों और संदर्भो में आर्थिक है।

वी.एम. दांडेकर कहते हैं कि भारत में वेतनभोगियों द्वारा हड़ताल सामान्य बात है। इनमें दो सौ रुपये से लेकर कई हजार का वेतन पाने वाले श्रमिक शामिल हैं। इसलिए वेतन–भोगी मजदूरों को एक विषामांगी श्रेणी के रूप में देखा जाना चाहिए।

इस तरह भारत की कुल श्रमशक्ति का तीन–चौथाई हिस्सा मार्क्सवाद की कसौटी से बाहर छूट जाता है। एक कल्याणकारी राज्य होने के कारण भारतीय राज्य आज सबसे बड़ा नियोक्ता, सबसे बड़ा रोजगार देने वाला है। क्या भारतीय राज्य किसी उद्योगपति या मजदूरों के नियोक्ता की तरह एक पूंजीवादी, शोषक और दमनकारी ऐजेंसी है? लगभग एक करोड़ कामगार छोटे उद्योगों और पारिवारिक–स्वामित्व वाले उद्यमों में कार्यरत हैं। इन उद्योगों का सामना वर्ग–वैमनष्य और हड़तालों से कभी नहीं होता। संगठित श्रमिकों की संख्या कुल श्रमशक्ति का मात्र नौवां भाग भर है। ऐसी स्थिति में क्या हम मार्क्सवादी नज़रिए को स्वीकार कर सकते हैं? वर्ग, जाति और व्यवसाय का अतिव्यापन, अभिजात वर्ग के द्वंद्व, पैरोकार समूह और गुट, मध्यम वर्गों का प्रभाव और "मिश्र वर्गों'' और 'भद्र किसानों' की उपस्थिति, इन सब कारकों को भारत के वर्गीय ढांचे के गंभीर विश्लेषण के लिए ध्यान में रखा जाना चाहिए। जजमानी प्रथा की व्याख्या भी हम वर्ग संबंधों और उत्पादन विधि के परिप्रेक्ष्य में दे सकते हैं। आइए, अब हम जाति क्रम परंपरा और व्यवसाय पर नज़र डालते हैं।

8-7 tkfr&Øe&ijijk vkj ox&l?k"k

भारत में कई वर्षों से दलितों पर आक्रमण किए जा रहे हैं, उनकी हत्या की जा रही है, उनकी महिलाओं के साथ बलात्कार किया जा रहा है और उन्हें तरह–तरह के अत्याचारों और अपमान का निशाना बनाया जा रहा है। अरुण सिन्हा कहते हैं कि यह अत्याचार छिट–पुट घटनाएं नहीं बल्कि हरिजनों के विरुद्ध छेड़ा गया 'वर्ग युद्ध' है। इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली में प्रकाशित एक लेख में सिन्हा कहते हैं, "बिहार के गांवों में धनाढ्य कृषक वर्ग के उदय ने चमार, दुसाध, कुर्मी, यादव, भूमिहार इत्यादि सभी जातियों के खेतिहार मजदूरों को अपने जातिगत संगठनों को त्यागकर मजदूर संघों की तरह लड़ने के लिए विवश कर दिया है।'' इसे वर्ग संघर्ष' कहा जाना चाहिए, जिसमें जातिगत मतभेदों को भुला दिया गया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हरिजन या चमार खेतिहार मजदूर को भूमिहार या ब्राह्मण मजदूर के समकक्ष सिर्फ इसलिए खड़ा नहीं किया जा सकता है कि दोनों का स्थान वर्गीय ढांचे में एक ही है।

स्वतंत्र भारत की वास्तविक स्थिति यह है कि पिछड़ी जातियों का धनाढ्य कृषक वर्ग आज वर्ग क्रम परंपरा के शीर्ष पर काबिज है। यह वही वर्ग है जो सवर्ण जातियों के सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष कर रहा है।

ck/k ç'u 2

1) वर्ग को सामाजिक परिघटना के रूप में पांच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

2) जाति क्रम परंपरा और वर्ग संघर्ष के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

गौर तलब है कि जनता पार्टी के शासन में बिहार में वर्चस्व के ढांचे में एक परिवर्तन आया जिससे राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के दूरगामी परिणाम निकले। इस दौरान ब्राह्मणों का वर्चस्व काफी हद तकं कम हुआ।

3-7-1 fgalk vkj 'kks"k.k

अत्याचार विरोधी समिति (1979) के मुताबिक बेल्ची, आगरा, पंतनगर, मराठवाड़ा और बाजितपुर समेत अनेक जगहों परं अनुसूचित जाति के लोगों की हत्या, लूट और उनकी महिलाओं के साथ बलात्कार की घटनाएं वर्ग संघर्ष और वर्ग संगठनों की तुलना में वर्ण व्यवस्था की भूमिका को दर्शाते हैं। समिति ने महाराष्ट्र में अनुसूचित जातियों के उत्पीड़न की प्रकृति और उसकी व्यापकता की जांच पड़ताल की थी। अनुसूचित जातियों के लोग ही गरीब किसान और खेतिहर मजदूर थे। समिति ने अपनी रिपोर्ट में निर्धन ग्रामीण महिलाओं विशेषकर दलित महिलाओं के यौन और आर्थिक दोनों प्रकार के शोषण और उत्पीड़न को उजागर किया था। समिति ने अपनी जांच के दौरान जो पाया और उससे जो निष्कर्ष निकाले वे बड़े ही महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं क्योंकि इनसे यह पता चलता है कि जाति को उत्पादन संबंधों की ही व्यवस्था के रूप में समझा जाता है। उधर, बिहार में रणबीर सेना और एक चरमपंथी वाम गुट के बीच छिड़े संघर्ष के चलते निम्न जाति के निर्धनों और ऊंची जाति के भूमिहारों के बीच नरसंहार प्रति–नरसंहार हो रहे हैं। यहां निम्न महत्वपूर्ण बातें ध्यान में रखी जानी चाहिएः

i) वर्ण व्यवस्था आर्थिक शोषण की एक बेहद प्रभावशाली विधि के रूप में काम करती है। प्रभावी जाति राजनीतिक सत्ताधिकार और सामाजिक प्रतिष्ठा भी अर्जित कर लेती है जो जाति क्रम। परंपरा और स्वामित्व को दर्शाती है। आर्थिक क्रम–परंपरा का सामाजिक क्रम–परंपरा से गहरा संबंध है।

ii) विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में जाति उत्पादन के साधनों और जीवन निर्वाह से निश्चित संबंधों को तय करती है। जातिगत संघर्ष या दंगे वर्ग हितों को दर्शाते हैं।

iii) जाति उत्पादन संबंधों को भी परिभाषित करती है क्योंकि यही जन समूहों और व्यक्तियों के उत्पादन के साधनों और संसाधनों तक पहुंच को संचालित करती है और राजनीतिक–आनुष्ठानिक क्रिया–कलापों के लिए सामाजिक आधार प्रदान करती है।

iv) भीमराव आंम्बेडकर ने सही कहा था कि वर्ण व्यवस्था सिर्फ श्रम का ही विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रमिकों का विभाजन भी है। जाति श्रमिकों को एक वर्ग के रूप उभरने से रोकती है। इसलिए जाति को ''झूठी चेतना'' की तरह एक

विचारधारा के रूप में लिया जाना चाहिए। यह देखने में आया है कि जाति और वर्ग दोनों की दलित पहचान और आंदोलन के उदय में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

v) जाति और धर्म को एक विशेष वर्गीय ढांचे को दृढ़ बनाने में प्रयोग किया जाता है।

vi) जाति सामंती विचारधारा के रूप में कायम रहती है।

vH;kl 2

ऊपर जो बिंदु (i)–(vi) दिए गए हैं उनकी रोशनी में मौजूदा वर्ण व्यवस्था पर अपने सहपाठियों के साथ चर्चा कीजिए और नोटबुक में उसके निष्कर्ष लिखिए।

अत्याचार विरोधी समिति कहती है कि "जाति भारतीय समाज एक सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। यह उत्पादन संबंधों के स्तर पर एक विशेष प्रकार के उत्पीड़न को दर्शाता है।'' ऐसा कहना कि मुद्दे सिर्फ वर्गीय हैं और जाति से जुड़े प्रश्न हैं ही नहीं, कोरी बकवास है। क्योंकि शुद्धतः "आर्थिक'' वर्ग से परे जाति विभाजन आज भी कायम हैं। इसलिए जाति के प्रश्नों से जुड़े मुद्दों को सभी प्रगतिशील लोगों, वामपंथियों, दलितों और गैर–दलितों और संगठनों को उठाना चाहिए। आज के भारतीय समाज की . वास्तविकता यही है कि इसमें वर्गीय हित जाति उत्पीड़न और वर्गीय शोषण के साथ–साथ उभर रहे हैं।

8-8 lkjk'k

जाति के ढांचागत पहलुओं विशेषकर इसके आर्थिक और राजनीतिक आयामों को अभी तक कम करके आंका गया है। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के सांस्कृतिक पहलुओं के विश्लेषण से हमें भारत के सामाजिक ढांचे की गहरी जानकारी मिल सकती है दोनों क्योंकि एक दूसरे से अभिन्न हैं। जैसा कि हमने बताया, है वर्ग जाति के परिप्रेक्ष्य में ही काम करते हैं और जाति संघर्ष वर्ग या किसान संघर्ष भी है.। ऊंची और निम्न जातियों के बीच विभाजन और टकराव काफी हद तक भूस्वामियों और बटाईदारों या खेतिहर मजदूरों के बीच होने वाले संघर्षों के रंग में ही होते हैं।

जाति और वर्ग संबंधों और उनके रूपांतर को समझने के लिए चार बुनियादी बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए। ये हैंः (i) द्वंद्वात्मकता (ii) इतिहास, (iii) संस्कृति और (iv) संरचना।

द्वंद्वात्मकता समाज के संज्ञानात्मक ढांचे में विभाजन को ही नहीं कहते हैं। द्वंद्वात्मकता उन प्रभावशाली धारणाओं को कहते हैं, जो अंतर्विरोध उत्पन्न करते हैं। यह समाज के असमान टुकड़ों और महिला और पुरुष के बीच संबंधों को उजागर करता है। इतिहास किंवदंतियों, शास्त्रों और आदर्शवादी रचनाओं पर आधारित अनुमान नहीं होता, बल्कि यह मौजूदा कार्य स्थिति और संबंधों का महत्वपूर्ण दस्तावेज होता है। इसी प्रकार संस्कृति में सिर्फ सांस्कृतिक प्रथाएं, अनुष्ठान, मृत्यु कर्मकांड इत्यादि ही शामिल नहीं होते. बल्कि खेल के नियमों, संपन्न. विशेषाधिकार प्राप्त लोगों और वंचितों के संबंधों की प्रकृति और प्रतिरोध या सहमति की विधियों–रीतियों को परिभाषित करता है। सामाजिक ढांचा निस्संदेह द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों, ऐतिहासिक शक्तियों और खेल के नियमों की उपज है। मगर यह उभरता है तो यह 'संघटन बन जाता है और फिर यह

भी इतिहास की धारा को तय करने वाली एक तरह की शक्ति बन जाता है। इस तरह सामाजिक ढांचा एक निश्चित काल में समाज के विभिन्न खंडों के बीच संबंध ही नहीं है बल्कि उससे कहीं ज्यादा यह एक ऐतिहासिक उत्पाद और वास्तविकता है। इन तत्वों को संरचनात्मक–ऐतिहासिक दृष्टिकोण के केन्द्र में रखकर हम जाति और वर्गीय ढांचे में होने वाले बदलावों को "रचनांतरण प्रक्रिया'' मान सकते हैं।

उपरोक्त निदर्शनात्मक व्याखाओं से ढांचागत परिवर्तन की जो प्रक्रियाएं निकलती हैं उन्हें हम इस प्रकार नोट कर सकते हैंः

i) अधोगामी गतिशीलता और सर्वहाराकरण

ii) ऊर्ध्वगामी गतिशीलता और बुर्जुआकरण

iii) ग्रामीण लोगों के लिए शहरी आमदनी और गांव में गतिशीलता

iv) ग्रामीण गैर–कृषि आमदनी और गतिशीलता।

अगर हमें भारत में जाति और वर्ग को पूरी तरह से समझना है तो इन्हीं विषयवस्तुओं पर अधिक ध्यान देना होगा।

8-9 'kCnkoyh

जाति : एक प्रदत्त समूह, जिसकी अखिल भारतीय वर्ण योजना के प्रति आस्था समेत कई विशेषताएं हैं।

एककालिक : घटना या विश्लेषण जो किसी अन्य घटना या विश्लेषण के साथ–साथ हो या किया जाए।

8-10 dN mi;kxh iLrd

बेटीली, आंद्रे, 1965, कास्ट, क्लास ऐंड पॉवर, बंबई, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

घुरये. जी.एस., कास्ट, क्लास ऐंड ऑक्यूपेशन, बंबई, पॉपुलर बुक डिपो, इससे पूर्व यह पुस्तक कास्ट. ऐंड रेस और कास्ट ऐंड क्लास शीर्षक के तहत छपी थी।

सिंह, योगेन्द्र, 1973, मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन, थॉमसन प्रेस (इंडिया) लि . फरीदाबाद।

श्रीनिवास. एम.एन., 1966, सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, बर्कले. कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस।

8-11 ck/k ç'uk dk mÙkj

ck/k ç'u 1

1) बेटीली का मानना है कि सत्ताधिकार एक प्रभावी जाति से दूसरी प्रभावी जाति को अंतरण होता है। सत्ताधिकार अब अपेक्षतया अधिक विभेदी संरचनाओं में निहित है। जैसे, पंचायत और राजनीतिक दल। के.एल. शर्मा के अनुसार परिवर्तन असमानता के एक ढांचे से दूसरे ढांचे में हुआ है।

Lrjhdj.k dk ifjp;

2) अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में वर्ण व्यवस्था को समझने के लिए हमें जाति जैसे वर्ण समूहों को ग्रामीण/शहरी संदर्भ विशेष में रखना होगा। यह समाज में स्थान उत्पन्न करता है और पहचान प्रदान करता है। पहचान रोजमर्रा के पारस्परिक–व्यवहार का कार्य नहीं है। इसलिए हो सकता है कि दो जाति समूह परस्पर विवाह नहीं रचाएं मगर उनमें एक ही वंश से जुड़े होने का एहसास हो सकता है और वे संकट पूर्ण स्थितियों में परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

ck/k ç'u 2

1) भारत की कृषि और शहरी औद्योगिक संरचनाओं के अध्ययन के लिए मार्क्सवादी धारणा को बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है। यह कहा गया है कि भारत की पूर्व–पूंजीवादी संरचना जाति और वर्ग दोनों पर आधारित है। रुद्र और दांडेकर सहित विभिन्न लेखकों ने कृषि के अपने विश्लेषणों में वर्ग को प्रयोग किया है।

2) ऐसा पाया गया है कि जाति कम परंपरा के निचले स्तर के लोगों पर बड़े ही व्यवस्थित ढंग से हमला किया गया है। सिन्हा को यह 'वर्ग युद्ध' लगता है न कि संयोग से होने वाले अत्याचार। स्वतंत्र भारत में वास्तविक स्थिति यह है कि पिछड़ी जातियों के धनाढ्य कृषकों का एक वर्ग ग्रामीण वर्ग क्रम परंपरा के शीर्ष पर आ पहुंचा है। यही वर्ग ऊंची जातियों के सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। जिसमें उसे कुछ सफलता भी हासिल हुई है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

bdkbZ 9 yfxd'r vlekurk,¡

bdkbZ dh :ijs[kk

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 सामाजिक नियंत्रण के माध्यम के रूप में देह

9.2.1 देह की अवधारणा

9.2.2 देह की समाजशास्त्रीय व्याख्या

9.2.3 संप्रेषणीय देह

9.3 लिंग पहचान को जन्म देने वाले कारक

9.3.1 समाजीकरण की प्रक्रिया

9.3.2 संस्कृति

9.3.3 धर्म

9.3.4 शिक्षा

9.3.5 संप्रेषण और संचार माध्यम

9.3.6 भाषा

9.3.7 सामाजिक परिवेश

9.4 सारांश

9.5 शब्दावली

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

9-0 mís';

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आपः

- निजी–व्यक्तित्व, देह, पहचान इत्यादि धारणाओं के विकास को समझ सकेंगे; और
- समाजीकरण–धर्म, शिक्षा, संस्कृति, जन–संचार माध्यम सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान की रचना को किस तरह से प्रभावित करते हैं, यह जान सकेंगे।

9-1 çLrkouk

सामाजिक–लिंग सोच (जेंडर) लिंग की जीव–वैज्ञानिक धारणा से एकदम भिन्न है। सामाजिक लिंग–सोच की रचना की जाती है जिसकी अभिव्यक्ति सामाजिक जीवन के कई क्षेत्रों में होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री और पुरुष में कुछ विशेष शारीरिक भेद मौजूद रहते हैं। ये जैविकीय भेद दोनों में व्यवहार–संबंधी भेदों को भी जन्म देते हैं या नहीं और इस प्रकार जैविक लिंग भूमिकाओं और सामाजिक लिंग

सोच जन्य स्तरीकरण का एक कारण है या नहीं, यह समाजशास्त्रियों में बहस का मुद्दा रहा है। जैविक नियतिवाद का मानना है कि जैविकी इन बातों को प्रभावित करती है। लेकिन समाजशास्त्री इस विरोध में तर्क देते हैं। उदाहरण के लिए, जन्म से ही मादा शिशु को नर शिशु से एकदम भिन्न तरीके से लिया जाता है। शोध अध्ययनों से पता चलता है कि बच्चे का जन्म होते ही इस धारणा पर ही बल दिया जाता है कि स्त्री पुरुष से निम्न है। फिर समाज द्वारा लड़कियों और महिलाओं के लिए निर्दिष्ट आचार संहिताएं इस धारणा को मजबूत बनाती है। इसलिए समाजशास्त्री कहते हैं कि सामाजिक–लिंग सोच जन्य भेदभाव और भूमिकाएं काफी हद तक समाज ही थोपता है।

9-2 lkekftd fu;a=.k dh ek/;e dh :i esa ng

आइए अब देह और उसकी संकल्पना पर आते हैं।

9-2-1 ng dh /kkj.kk

देह स्पष्टतः संस्कृति का माध्यम है। हम अपने देह की देखभाल करते हैं और उसे चुस्त दुरुस्त बनाए रखते हैं, सजते संवरते हैं, अन्य लोगों से बातचीत करते हैं। मगर देह संस्कृति का सिर्फ तानाबाना ही नहीं है। बल्कि. यह "सामाजिक नियंत्रण का आधार'' भी है। इसलिए हम जैसा चाहते हैं वैसा नहीं बन पाते। बल्कि हमारा रूप हमारा व्यक्तित्व संस्कृति के जरिए ही बनता है। हमारे इसी रूप को फॉलकॉल्ट "विनेय देह'' की संज्ञा देते हैं जिसे सांस्कृतिक जीवन के आदर्श नियमित करते हैं।

भारत के संदर्भ में देह पर एक महत्वपूर्ण कृति डेविड आरर्नाल्ड द्वारा रचित कोलोनाइजिंग द बॉडी (देह का औपनिवेशीकरण) है। आर्नल्ड कहते हैं कि देह औपनिवेशिक शक्ति के लिए उपनिवेश स्थल तो है ही, यह उपनिवेश बनने वाले और उपनिवेश बनाने वाले राष्ट्रों के बीच संघर्ष का मैदान भी है।

9-2-2 ng dh lekt'kkL=h; 0;k[;k

मानव–विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों ने नारी देह के विशिष्ट स्वरूप की व्याख्या जाति, धार्मिक विश्वास, सामाजिक नियमों और प्रथाओं की रोशनी में की है और यह बताया है कि नारी के देह रूप और उसकी लैंगिकता किस तरह सामाजिक मर्यादा या सीमा के महत्वपूर्ण चिन्हकों का काम करते हैं। यह। एक निर्विवाद सत्य है कि नारी की लैंगिकता को जाति और वर्गीय कारक नियंत्रित करते हैं। नारी की देह और उसकी लैंगिकता पुरुष के नियंत्रण क्षेत्र में रहती है। यह सिर्फ पितृसत्तात्मक शक्ति का ही नहीं बल्कि सामाजिक नियंत्रण का आग्रह भी है। स्त्री को अपनी लैंगिकता की एक स्वतंत्र, स्वगमित व्याख्या या उसकी अभिव्यक्ति करने की अनुमति नहीं होती। उसकी देह जाति, वर्ग और सामुदायिक आन की अभिव्यक्ति का माध्यम और प्रतीक बन जाती है। शुचिता, पवित्रता और शुद्धता का महिमामंडन कुल, संप्रदाय और राष्ट्र की आन स्त्रियोचित गुणों के रूप में किया जाता है। एक तरह से नारी की देह उसकी नहीं रहती बल्कि समाज में अपनी छवि को प्रतिष्ठापित करने और उसे वैध बनाने के लिए समुदाय विशेष उस पर अपना अधिकार समझता है। इस समुदाय में स्त्री और पुरुष दोनों ही शामिल रहते हैं।

नारी देह वह आधार है जिस पर लिंग समानता बनती है, स्थापित होती है और उसे वैधता मिलती है इसलिए नारी देह को विभिन्न संदर्भो, परिवेशों और परिस्थितियों में समझना जरूरी है।

9-2-3 lçs"k.kh; nsg

नारी की देह को जब हम संप्रेषणशील या जिए जाने वाली काया के रूप में देखते हैं तभी हम जिए–जाने वाले अनुभव की सामाजिक प्रस्थापना के निहितार्थों को समझ सकते हैं। इसके साथ–साथ अपने देहरूप और उसकी अभिव्यक्ति को लेकर महिलाओं की अपनी जो समझ है उसे भी हम जाने सकते हैं। सामाजिक लिंग सोच की छाप महिलाओं पर उनके दैनिक जीवन में सामाजिक रूप से और उनके जीवन अनुभवों, बोध, आकांक्षाओं, फंतासियो के जरिए बनी रहती है। इस तरह लिंग पहचान इस मायने में विरचित और अनुभूत दोनों है।

नारी की पहचान के मूल में नारी देह के निरूपण का अंतःकरण है।

cks/k çs'u 1

1) देह की समाजशास्त्रीय धारणा उसकी जीव–वैज्ञानिक धारणा से किस तरह से भिन्न है? आठ पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

9-3 fyx&igpku dk tUe nus okyk dkjd

आइए अब देखते हैं कि समाजीकरण किस तरह लिंग पहचान को प्रभावित करता है।

14-3-1 lekthdj.k

समाजीकरण व्यक्ति द्वारा अपनी संस्कृति के अनुकूल ढलने के लिए समाज के मूल्यों का अंतःकरण करने, उनका और उन्हें आत्मसात करने की प्रक्रिया है। जो तय करती है कि समाज में पुरुष और स्त्रियां किस तरह आचरण करें।

एक ओर सभी महिलाएं रजोधर्म, संतानोत्पत्ति और शिशुओं के लालन–पालन, रजोनिवृत्ति के अनुभवों से गुजरती हैं, जो पुरुषों के साथ नहीं होता। वहीं दूसरी ओर सभी स्त्री–पुरुष ऐसे सांस्कृतिक परिवेश में रहते हैं जो देहरूप के अनुभव को उनके वर्ग, जातीय, धार्मिक और जातिगत कारकों के अनुसार अलग–अलग स्वरूप प्रदान करता है। इसलिए दैनिक जीवन में देहरूप के अनुभव के लिए ये सामाजिक–स्थानिक और अन्य ऐतिहासिक कारक महत्वपूर्ण हैं।

विभिन्न संस्कृतियों में प्रचलित समाजीकरण के चलन कन्याओं के पालन–पोषण में बरती जाने वाली तत्परता और चिंता को दशति हैं। इससे हम सामाजिक नियमों,

मूल्यों और प्रथाओं के अनुसार आचरण करने की सीख मिलती है। कालांतर में इस प्रक्रिया में महिलाएं सामाजिक अपेक्षाओं को इस तरह से आत्मसात कर लेती हैं कि वे उन्हें अपना अनुभव मानने लग जाता है। जिससे सत्ताधिकार उन पर बलात् काम नहीं करता बल्कि वह उन्हीं के भीतर काम करने लगता है।

समाजशास्त्रियों का मानना है कि समाजीकरण की जिस प्रक्रिया से लोग यह सीखते हैं कि उनके अभिभावक, संगी–साथी और वृहत्तर समाज उनसे क्या अपेक्षा करता है, वही प्रक्रिया स्त्री और पुरुष को अपने लिंग के अनुसार आचरण के नियम सिखाती है।

सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरणः सामाजिक अधिगम की जो प्रक्रिया लोगों विशेषकर युवाओं में अपनी संस्कृति के विभिन्न पहलुओं की समझ पैदा करती है उसमें सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरण की प्रक्रिया भी आती है। लिंग–जन्य समाजीकरण की इस प्रक्रिया में समाज में प्रचलित सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाएं और उनके लाभ व सीमाओं को सीखने की प्रक्रिया आती है। अधिकतर समाजों में पुरुष या स्त्री का स्पष्ट श्रेणीकरण होता है कि स्त्री या पुरुष होने में क्या होता है। श्रेणीकरण की यह प्रक्रिया और सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाओं के ज्ञान को संचारित करने वाले समाजीकरण के कारक यह तय करते हैं कि व्यक्ति खुद को और अन्य लोगों को सामाजिक लिंग सोच और लिंग भूमिकाओं के आधार पर किस तरह व्याख्या करते हैं।

कई समाजों में सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाएं, जिनका अभिप्राय प्रत्येक लिंग के लोगों के लिए आचरण के अपेक्षित तौर–तरीकों से है, बड़ी कठोरता से परिभाषित रहती हैं। उदाहरण के लिए पुरुषों से यह अपेक्षा करने की परंपरा रही है कि वे बलवान, आक्रामक और यहां तक की हावी रहने वाले हों। इसी प्रकार ''लड़के रोते नहीं'', यह जुमला पुरुष की भूमिका के पहलू को दर्शाता है। लेकिन महिलाओं से अपेक्षा की जाती है कि उनमें ममता, पालन–पोषण करने की भावना हो, वे संवेदनशील और अपेक्षत्या सहनशील हों। बच्चों को उनकी शैशवास्था से ही सचेतन या अवचेतन रूप से इन मूल्यों को सिखाया जाता है। उदाहरण के लिए दोनों के लिए खिलौने भी अलग–अलग बनाए जाते हैं। लड़कों को बड़े, शोरगुल करने वाले या हिंसक किस्म के खिलौने दिए जाते हैं, लेकिन लड़कियों को हल्के फुल्के खिलौने दिए जाते हैं। इन्हें अभिव्यक्तियां से निजी–व्यक्तित्व की पहचान बनती है।

सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरण के वाहकः माता–पिता, भाई–बहन, संगी–साथी, विद्यालय, समाज, धर्म और अन्य संस्थाएं समाजीकरण के वाहक का काम करते हैं। छोट–छोटे बच्चों के लिंग–जन्य समाजीकरण में मुख्य भूमिका उनके माता–पिता दादी–दादा सहित परिवार के अन्य सदस्य निभाते हैं। इसे वही तय करते हैं कि परिवार लड़के के साथ किस तरह का व्यवहार करे और बच्चे को किस तरह के खिलौने और कपड़े दिए जाएं।

लिंग पहचान दो वर्ष के भीतर ही स्थापित हो जाती है जिसके केन्द्र में ''मैं मर्द हूं'' या ''मैं औरत हूं'' यह धारणा होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रायड के सिद्धांत के अनुसार सम–लिंगी अभिभावकों (माता–पिता) के साथ तादात्म बनाने और उनके अनुकरण करने से लिंग–पहचान प्रभावशाली तरीके से बनती है। फ्रायड जिस प्रछन्न या अव्यक्त काल (सात से लेकर बारह वर्ष की आयु) की बात करते हैं उसी दौरान स्त्री और पुरुष अपने को एक दूसरे से पृथक करने लग जाते हैं। इसे हम

समाजीकरण की प्रक्रिया का ही हिस्सा मान सकते है और यह सामाजिक–लिंग सोच जन्य अभिज्ञान और भूमिका विशिष्ट आचरण को ठोस आकार देती है। किशोरावस्था में स्कूल और परिवार लिंग समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। किशोरावस्था के दौरान संगी–साथियों का प्रभाव लिंग समाजीकरण के सबसे शक्तिशाली कारक के रूप में काम करता है क्योंकि किशोर आपस में छोटे–छोटे सामाजिक समूह बनाते हैं जो वयस्क जीवन और वृहत्तर समाज में उनके संक्रमण को आसान बनाता है। जन संचार माध्यम भी किशोरावस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान और समाजीकरण व्यक्ति के आत्म–सम्मान के बोध पर गंभीर प्रभाव डाल सकते हैं।

9-3-2 lL—fr

परंपरागत रूप से संस्कृति को लिंग पहचान के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। समाजीकरण का सिद्धांत विस्तारपूर्वक बताता है कि लड़के और लड़कियों से किस तरह शैशवावस्था से ही अलग–अलग तरीके से व्यवहार किया जाता है। इसी के फलस्वरूप वे सामाजिक–मनोवैज्ञानिक विशेषताएं लेकर बड़े होते हैं। शिक्षा को इस प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग माना गया है, जो लड़कों और लड़कियों को अलग–अलग क्रिया–कलापों और उपलब्धियों की ओर खींचती है। सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) और संस्कृति का जो नवीनतम विश्लेषण किया गया है वह मुख्यतः साहित्यक सिद्धांत पर आधारित है जिसमें मुख्य डेरिडा (1967) का विसंरचनावाद और मिशेल फॉकॉल्ट का संवाद विश्लेषण है इसमें व्यक्तिगत अधिगम अनुभव के बजाए पाठों या निरूपण या संवाद/परिचर्चाओं के सृजन पर अधिक जोर दिया गया है, जिनसे हममें सामाजिक–लिंग सोच जन्य धारणाओं की रचना होती है (वीडन, 1987) इस अध्ययन में न सिर्फ स्त्री और पुरुष के बीच विद्यमान भेदों बल्कि स्त्रियों के बीच में मौजूद भेदों भी बात की गई है। असल में स्त्रियों के बीच विद्यमान भेदों को इस तरह जो महत्ता दी गई है उसने इस धारणा को ही उलझा के रख दिया है कि महिलाएं एकात्मक श्रेणी हैं।

भारत में स्त्री को दोहरे रूप में दर्शाया गया है। स्त्री को मिथक और जन–संस्कृति में देवी और विध्वंसक शक्ति, धर्म–परायण पत्नी और अनिष्टकारी, देहरूप से पवित्र और अपवित्र दोनों तरह से बताया गया है। स्त्रियों की पूजा और उनका आदर ही नहीं किया जाता बल्कि उसकी लैंगिकता को सीधे नियमित करके उसे नियंत्रण में भी रखा जाता है।

9-3-3 /kel

किसी भी समाज में धर्म को लेकर स्त्री और पुरुषों का अनुभव एक जैसा नहीं होता। धर्म एक शक्तिशाली सामाजिक संस्था है जो समाज में सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान को बनाती है। इसमें ऐसे पवित्र स्थान हैं जिसमें प्रवेश की अनुमति सिर्फ पुरुषों को ही होती है, महिलाओं को नहीं। इसी प्रकार इसमें ऐसे नियम हैं जिनके अनुसार धार्मिक कृत्यों में कुछ कर्तव्यों या दायित्वों को सिर्फ पुरुष ही पूरा कर सकते हैं। इस तरह धर्म सिर्फ यही नहीं बताता है कि विभिन्न धार्मिक कृत्यों में पुरुष और स्त्रियां किस तरह भाग लें बल्कि समाज में पुरुष और स्त्री को जो सामाजिक लिंग

सोच जन्य भूमिकाएं सौंपी जाती हैं उन्हें भी वह प्रबल बनाता है और उन्हें वैधता का जामा पहनाता है।

9-3-4 f'k{kk

औपचारिक शिक्षा सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाओं में दीक्षा देता है जिससे निजी–व्यक्तित्व धीरे–धीरे विकसित होता है और लिंग पहचान को प्रभावित करता है। स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जो अनेक आदर्श (रोल मॉडल) और अनुकरणीय उदाहरण बताए जाते हैं, वे सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) जन्य पहचान के निर्माण में मुख्य भूमिका निभाते हैं। एक सामाजिक संस्था के रूप में शिक्षा को समाजशास्त्री सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरण प्रक्रिया और सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) का रूढ़िप्ररकरण से जोड़कर देखते हैं।

9-3-5 l;pkj ek/;e

हमारा जीवन किसी न किसी तरीके से संचार और उसके माध्यमों से संप्रेषित होने वाली छवि से। प्रभावित होती है। दृश्य और प्रकाशन माध्यम (टेलीविजन, समाचार पत्र–पत्रिकाएं इत्यादि) नारी देह की छवि को एक 'पूर्ण' या वांछनीय' देह के रूप में प्रस्तुत करके महिलाओं के सोच को प्रभावित करते हैं। आधुनिक शहरी भारत में टेलीविजन और पत्र–पत्रिकाओं के बढ़ते प्रभाव के चलते नारीतव के नियम सांस्कृतिक रूप से अब 'मानकीकृत दृश्य छवि' के माध्यम से ही संचारित हो रहे हैं। इससे हम सीधे दैहिक संवाद से यानी छवियों के नियमों को सीखते हैं जो हमे यह बताती हैं कि समाज में किस तरह की वेशभूषा, देहाकार, मुखाकृति, चाल–ढाल और आचरण जरूरी है। इस तरह की छवियां विज्ञापनों, फैशन शो, सौंदर्य प्रतियोगिताओं, फैशन मॉडलों, पत्र–पत्रिकाओं विशेषकर महिलाओं की पत्रिकाओं से हमें प्रस्तुत की जाती हैं। केबल टीवी हमारे घरों में विज्ञापनों, फिल्मों, टॉक शो इत्यादि के जरिए पूर्ण नारी देह' की पश्चिमी मनोग्रस्ति को भी ले आया है। इससे प्रसारित होने वाले संदेश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नारी देह को ही संबोधित करते हैं।

9-3-6 Hkk"kk

सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान मौखिक और अमौखिक दोनों माध्यमों से प्रेरित होती है और बनती है। कुछ समय से समाजशास्त्र में इस बात के अध्ययन पर रुचि ली जा रही है कि भाषा की अर्थ संरचना से सामाजिक लिंग सोच जन्य वर्गीकरण किस तरह से प्रभावित होता है। लैकॉफ (1975) के अनुसार भाषा में प्रचलित सामान्य जातीय शब्द संज्ञानात्मक संरचना और लिंग (जेंडर) के प्रति दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। सामान्य शब्द पुरुष वर्चस्व और श्रेष्ठता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को दशति हैं और उसे जारी रखते हैं। उदाहरण के लिए 'आदमी' शब्द सामान्य अर्थ में सभी मनुष्यों के लिए प्रयुक्त होता है, जबकि 'स्त्री' शब्द सिर्फ महिलाओं के लिए प्रयोग होता है। इसी प्रकार अविवाहित (बैचलर) शब्द आज भी अकेले अनब्याहे व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले मूल अर्थ को बरकरार रखे हुए है। लेकिन अविवाहिता (स्पिनस्टर) शब्द ने अब "उम्रदार अनब्याही महिला" जैसा नकारात्मक अर्थ ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार भाषा भी एक ऐसा माध्यम है जिसके जरिए सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान थोपी जाती है या उसे मजबूत बनाया जाता है।

9-3-7 lkekftd ifjo`'k

दैनिक जीवन में महिला को अपने देहरूप को लेकर जो अनुभव होता है वह निसंदेह विभिन्न परिवेशों और परिप्रेक्ष्यों में उसकी स्थिति से जुड़ा होता है चाहे वह संप्रदाय हो या परिवार या फिर कार्यस्थल या अन्य स्थान जहां वह रहती हो, काम करती हो या आती–जाती हो। असल में लिंग पहचान के निर्माण की मुख्य धुरी यही है।

cks/k ç'u 2

1) समाजीकरण के वाहक कौन हैं

(a) परिवार; (b) विश्वविद्यालय; (c) पुस्तकालय; (d) संगी साथी समूह

1) सिर्फ a
2) सिर्फ b
3) सिर्फ c
4) सिर्फ d
5) सभी

2) सिगमंड फ्रायड के अनुसार लिंग पहचान किस उम्र में स्थापित हो जाती है?

1) 18 वर्ष
2) 25 वर्ष
3) 30 वर्ष
4) 2 वर्ष

3) संचार माध्यम लिंग पहचान के निर्माण को किस तरह से प्रभावित करते हैं? पांच पंक्तियां में बताइए।

9-4 lkjka'k

स्त्री की रचना असल में समाज ने की है और उससे जो सामाजिक–लिंग सोच उपजी है वही रोजमर्रा की दुनिया में नारी के देहरूप के स्वभाव को समझने में मुख्य है। ऐसा नहीं है कि सामाजिक लिंग सोच और पहचान स्थायी और अपरिवर्तनीय हो। यह रचित और अनुभूतिपरक दोनों ही है। कभी–कभी इसे पार भी किया जा सकता है। इसलिए यह संप्रेषण और विनिमय की प्रक्रिया के दौरान निरंतर बनने वाली चीज है, जो स्त्रियों के रोजाना के जीवन अनुभवों के माध्यम से विकसित होती है।

9-5 'kCnkoyh

lkekftd fyx lkp ¼tsMj½ % 'सेक्स' या लिंग का अभिप्राय स्त्री और पुरुष की जैविक विशेषताओं से होता है। लेकिन सामाजिक लिंग सोच को एक. सामाजिक रचना माना जाता है, जिसमें व्यक्तित्व संबंधी सभी विशेषताएं, मूल्य, आचरण और वे सभी क्रिया–कलाप आते हैं जिन्हें समाज पुरुषों और महिलाओं को अलग–अलग तरीके से सौंपता है।

lkekftd fyx lkp % नर या मादा होने का बोध जो प्रायः दो वर्ष की उम्र तक जन्य पहचान हो जाता है।

lkekftd fyx lkp % सामाजिक लिंग सोच जन्य (जेंडर) भूमिकाओं का सामाजिक जन्य समाजीकरण और पारिवारिक अपेक्षाओं और इन भूमिकाओं का अन्य लोगों द्वारा निर्वाह करके उन्हें अंगीकार करना।

lkekftd fu;=.k % इसे मानव समाज में प्रचलित नियमों और प्रथाओं के पालन के लिए प्रयोग किए जाने वाले सभी प्रकार के बलों और अंकुशों के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

lekthdj.k % अपनी संस्कृति के अनुकूल ढलने के लिए समाज के मूल्यों के आत्मसातीकरण या अंतःकरण की प्रक्रिया जो यह तय करती है कि समाज में स्त्री–पुरुष किस तरह से आचरण करें।

9-6 d[N mi;kxh i[Lrd

तपन, मीनाक्षी (संपा) 1997, एंबोडिमेंटः एसेज ऑन जेंडर एंड इक्वैलिटी, नई दिल्ली, ऑक्सफर्ड यूनि. प्रेस

मैत्रेयी कृष्णराज और करुणा चानना (संपा) 1989, जेंडर एंड द हाउसहोल्ड डोमेनः सोशल एंड कल्चरल डायमेंसंस, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

फैथ, कार्लीन (1994) "रेजिस्टेंसः लेसंस फ्रॉम फॉकॉल्ट एंड फैमिनिज्म" (संपा.) एच. लॉरेन रैडके और एच.जे. स्टैम (संपा.) पावर/जेंडर सोशल रिलेशंस इन थ्योरी एंड प्रैक्टिस, लंदन, सेज पब्लिकेशंस में

9-7 ck/k ç'uk d mÙkj

ck/k ç'u 1

1) शरीर को लेकर जो जीव–वैज्ञानिक धारणा प्रचलित है वह स्त्री और पुरुष के बीच शारीरिक भेदों को बताती है। जैव नियतिवादी मानते हैं कि स्त्री और पुरुषों में विद्यमान आचरण संबंधी भिन्नता और उसके फलस्वरूप लिंग भूमिकाओं की व्याख्या के मूल में शारीरिक भेद हैं। लेकिन समाजशास्त्रियों ने देह की जो धारणा बनाई है वह उसकी जैविक धारण से बिल्कुल विपरीत है। समाजशास्त्रियों के अनुसार देह संस्कृति का वाहक, उसका माध्यम है। प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक नियम ही देह की धारण परिभाषित करते हैं और काफी हद तक सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिका और इससे संबंधित स्तरीकरण को ठोस स्वरूप प्रदान करते हैं।

ck/k ç'u 2

1) 5 (सभी)

2) 4 (2 वर्ष)

3) दृश्य और प्रकाशन दोनों ही माध्यम सामाजिक लिंग सोच जन्य पूर्वाग्रहों के मुख्य स्रोत हैं और इनके जरिए प्रचारित रूढ़िप्ररूप आदर्श व्यक्तित्वों (स्टीरियोटाइप रोल मॉडल) से सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान प्रभावित

होती है। इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण पूर्ण' या 'वांछनीय' देह के रूप में नारी देह की छवि का शक्तिशाली केबल टेलीविजन और पत्र–पत्रिकाओं समेत विभिन्न संचार माध्यमों से प्रचार है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY